अर्हम् ।

विवाह-क्षेत्र-प्रकाश

अर्थात्,

'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण' की समालोचना के उत्तररूप में, अनेक प्राचीन रीतियों के प्रदर्शनपूर्वक, विवाह के वर्तमान क्षेत्र पर प्रकाश ।

लेखक

पंडित जुगलकिशोर मुख़्तार,

सरसावा, ज़िला सहारनपुर ।

प्रकाशक

ला० जौहरीमल जैन, सर्राफ़,

दरीबा कलाँ, देहली ।

मुद्रक

गयादत्त प्रेस, बड़ा दरीबा, देहली ।

प्रथमावृत्ति हज़ार प्रति	भाद्रपद, संवत् १९८२ विक्रम, अगस्त, १९२५	मूल्य छह आने

प्रकाशक के दो शब्द।

आज, अपनी पूर्वसूचना के अनुसार, 'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण' की समालोचना का विस्तृत उत्तर लेकर, मैं अपने पाठकों के सामने उपस्थित हो रहा हूं, यह मेरे लिये एक बड़े ही आनन्द तथा हर्ष का विषय है। लेखक महोदय पं० जुगल किशोर जी ने इस उत्तर-लेखके लिखने में कितना अधिक परिश्रम किया है, कितना युक्ति-युक्त, प्रामाणिक तथा सर्वांग-पूर्ण उत्तर लिखा है और इसके द्वारा विवाहक्षेत्र पर कितना अधिक प्रकाश डाला गया है, ये सब बातें प्रकृत पुस्तक को देखने से ही सम्बन्ध रखती हैं। और इस लिये अपने पाठकों से मेरा यह सानुरोध निवेदन है कि वे इस पुस्तकको खूब गौरके साथ साद्यन्त पढ़नेकी ज़रूर कृपा करें। इसके पढ़नेसे उन्हें कितनी ही नई नई बातें मालूम पड़ेंगी और वे विवाह की वर्तमान समस्याओं को हल करने में बहुत कुछ समर्थ हो सकेंगे। साथही उन्हें यहभी मालूम पड़ जायगा कि पं० मक्खनलालजी प्रचारक की लिखी हुई समालोचना कितनी अधिक निःसार, निर्मूल, बेतुकी, बेढंगी, मिथ्या, तथा समालोचकके कर्तव्योंसे गिरी हुई है। और उसके द्वारा कितना अधिक भ्रम फैलाने तथा सत्य पर पर्दा डालने की जघन्य चेष्टा की गई है।

यहाँ पर मैं इतना और भी प्रकट करदेना उचित समझता हूं कि समालोचकजी ने समालोचना की 'भूमिका' में प्रकाशक के उद्देश्य तथा आशय (मंशा) के विषय में जो कुछ लिखा है वह सब भी मिथ्या तथा उन्हींके द्वारा परिकल्पित है।

अन्तमें, लेखक महोदयका हृदय से आभार मानता हुआ, मैं उन सभी सज्जनों का सहर्ष धन्यवाद करता हूं जिन्होंने इस पुस्तक को प्रकाशित करने में सहायता प्रदान की है।

जौहरीमल्ल जैन।

विवाह-क्षेत्र-प्रकाश।

अर्थात्,

'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण' की समालोचना के उत्तररूपमें, अनेक प्राचीन रीतियों के प्रदर्शनपूर्वक, विवाहके वर्तमान क्षेत्र पर प्रकाश।

प्राथमिक निवेदन।

सन् १९१८ में, 'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण' नामसे मैंने एक लेख माला प्रारंभ की थी और उस समय सबसे पहिले एक छोटासा लेख सेठ चारुदत्त के उदाहरण को लेकर लिखा गया था, जो अक्तूबर सन् १९१८ के 'सत्योदय' में प्रकाशित हुआ और जिसमें जाति बिरादरी के लोगों को पतित भाइयों के प्रति अपने अपने व्यवहार तथा बर्ताव में कुछ शिक्षा ग्रहण करने की प्रेरणा की गई थी। उसके बाद, वसुदेवजी के उदाहरण को लेकर, दूसरा लेख लिखा गया और उसमें विवाह-विषय पर कितना ही प्रकाश डाला गया। यह लेख सबसे पहले अप्रेल सन १९१९ के 'सत्योदय' में, और बादको सितम्बर सन् १९२० के 'जैन हितैषी' में भी प्रकाशित हुआ था। इन्हीं दोनों लेखों को आगे पीछे संग्रह करके, हालमें, ला० जौहरीमल जी जैन सर्राफ, दरीबा कलाँ, देहली ने 'शिक्षाप्रद

शास्त्रीय उदाहरण' नामसे एक पुस्तक प्रकाशित की और उसे बिना * मूल्य वितरण किया है। इस पुस्तक पर जैन अनाथाश्रम देहली के प्रचारक पं० मक्खनलाल जी ने एक समालोचना (!) लिखकर उसे पुस्तक की शकल में प्रकाशित कराया है, और वे उसका जोरों के साथ प्रचार कर रहे हैं। प्रचारक जी की वह समालोचना कितनी निःसार, निर्मूल, निर्हेतुक, बेतुकी और समालोचक के कर्त्तव्यों से गिरी हुई है, और उसके द्वारा कितना अधिक भ्रम फैलाने तथा सत्य पर पर्दा डालने की जघन्य चेष्टा कीगई है, इन सब बातोंको अच्छी तरहसे बतलाने और जनता को मिथ्या तथा अविचारितरम्य समालोचना से उत्पन्न होने वाले भ्रमसे सुरक्षित रखने के लिये ही यह उत्तर-लेख लिखा जाता है। इससे विवाह-विषय परऔर भी ज्यादा प्रकाश पड़ेगा—वह बहुत कुछ स्पष्ट हो जायगा—और उसे इस उत्तर का आनुषंगिक फल समझना चाहिये।

सबसे पहिले, मैं अपने पाठकों से यह निवेदन करदेना चाहता हूं कि जिस समय प्रचारकजीकी उक्तसमालोचना-पुस्तक मुझे पहले पहल देखने को मिली और उसमें समालोच्य पुस्तक की बाबत यह पढ़ा गया कि वह "अत्यन्त मिथ्या, शास्त्र विरुद्ध और महा पुरुषों को केवल झूठा कलंक लगाने वाली" तथा "अस्पृश्य"† है और उसमें "बिल्कुल झूठ," "मनगढंत," "सर्वथा

* यह पुस्तक अब भी विना मूल्य उक्त लाला जौहरीमल जी के पास से मिलती है।

† समालोचक जी खुद पुस्तक को छूते हैं दूसरों को पढ़ने छूने के लिये देते हैं, कितनी ही बार श्रीमन्दिर जी में भी उसे ले गये परन्तु फिर भी अस्पृश्य बतलाते हैं! किमाश्चर्यमतः परं !!

मिथ्या और शास्त्र विरुद्ध" कथाएँ लिख कर अथवा "सफ़ेद झूठ" या "भारी झूठ" बोल कर "धोखा" दिया गया है, तो मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं रही। क्योंकि, मैं अब तक जो कुछ लिखता रहा हूं वह यथाशक्ति और यथासाधन बहुत कुछ जाँच पड़ताल के बाद लिखता रहा हूँ। यद्यपि मेरा यह दावा नहीं है कि मुझसे भूल नहीं हो सकती, भूल ज़रूर हो सकती है और मेरा कोई विचार अथवा नतीजा भी ग़लत हो सकता है परन्तु यह मुझसे नहीं हो सकता कि मैं जानबूझकर कोई ग़लत उल्लेख करूं अथवा किसी बातके असली रूपको छिपाकर उसे नक़ली या बनावटी शकल में पाठकों के सामने उपस्थित करूँ। अपने लेखों की ऐसी प्रकृति और परिणतिका मुझे सदा ही गर्व रहता है। मैं सत्य बातको कभी छिपाना नहीं चाहता—अवसर मिलने पर उसे बड़ी निर्भयता के साथ प्रगट कर देता हूं—और असत्य उल्लेखका सख़्त विरोधी हूँ। ऐसी हालत में उक्त समालोचना को पढ़कर मेरा आश्चर्य चकित होना स्वाभाविक था। मुझे यह ख़याल पैदा हुआ कि कहीं अनजान में मेरे से कोई ग़लत उल्लेख तो नहीं होगया, यदि ऐसा हुआ हो तो फौरन अपनी भूलको स्वीकार करना चाहिये, और इस लिये मैंने बड़ी सावधानी से अपनी पुस्तक के साथ समालोचना की पुस्तक को ख़ूबही ग़ौर से पढ़ा और उल्लेखित ग्रंथों आदि पर से उसकी यथेष्ट जाँच पड़ताल भी की। अन्तको मैं इस नतीजे पर पहुंचा हूँ कि समालोच्य पुस्तक में एक भी ऐसी बात नहीं है जो ख़ास तौरपर आपत्ति के योग्य हो। जिनसेनाचार्य कृत हरिवंशपुराण के अनुसार, 'देवकी' अवश्य ही वसुदेव की 'भतीजी' थी परन्तु उसे "सगी भतीजी" लिखना यह समालोचक जी की निजी कल्पना और उनकी अपनी करतूत है—लेखकसे उसका कोई सम्बन्ध नहीं है;

'जरा' जरूर म्लेच्छकन्या थी और म्लेच्छों का वही आचार है जो आदिपुराण में वर्णित हुआ है; 'प्रियंगुसुन्दरी' एक व्यभिचारजात की ही पुत्री थी, और रोहिणी के वरमाला डालने के वक्त तक वसुदेव के कुल और उनकी जातिका वहाँ (स्वयंवर में) किसी को कोई पता नहीं था। वे एक अपरिचित तथा बाजा बजाने वाले के रूप में ही उपस्थित थे। साथ ही, चारुदत्त सेठ का बसंतसेना वेश्या को अपनी स्त्री बना लेना भी सत्य है। और इन सब बातों को आगे चलकर खूब स्पष्ट किया जायगा।

उद्देश्यका अपलाप, अन्यथाकथन और समालोचकके कर्त्तव्यका खून।

समालोचना में पुस्तक पर बड़ी बेरहमी के साथ कुन्दी छुरी ही नहीं चलाई गई, बल्कि सत्य का बुरी तरह से गला घोटा गया है, पुस्तक के उद्देश्य पर एक दम पानी फेर दिया है, उसे समालोचना में दिखलाया तक भी नहीं, उसका अपलाप करके अथवा उसको बदल कर अपने ही कल्पित रूपमें उसे पाठकों के सामने रक्खा गया है और इस तरह पर समालोचक के कर्तव्यों से गिरकर, बड़ी धृष्टता के साथ समालोचना का रंग जमाया गया है! अथवा यों कहिये कि भोले भाइयों को फँसाने और उन्हें पथभ्रष्ट करने के लिये खासा जाल बिछाया गया है। यह सब देखकर, समालोचक जी की बुद्धि और परिणति पर बड़ी ही दया आती है। आपने पुस्तक लेखक के परिणामों का फोटू खींचने के लिये समालोचनाके पृष्ठ ३९, ४० पर, "जो रूढ़ियोंके इतने भक्त हैं"

इत्यादि रूपसे कुछ वाक्यों को भी उद्धृत किया है परन्तु वे वाक्य आगे पीछे के सम्बन्ध को छोड़ कर ऐसे खण्ड रूपमें उद्धृत किये गये हैं जिससे उनका असली मतलब प्रायः गुम हो जाता है और वे एक असम्बद्ध प्रलापसा जान पड़ते हैं। यदि समालोचक जी ने प्रत्येक लेख के अंतमें दिये हुये उदाहरण के विवेचन अथवा उसके शिक्षा-भागको ज्यों का त्यों उद्धृत किया होता तो वे अपने पाठकों को पुस्तक के आशय तथा उद्देश्य का अच्छा ज्ञान कराते हुए, उन्हें लेखक के तज्जन्य विचारों का भी कितना ही परिचय करा सकते थे, परन्तु जान पड़ता है उन्हें वैसा करना इष्ट नहीं था-वैसा करने पर समालोचना का सारा रंग ही फीका पड़ जाता अथवा उन अधिकांश कल्पित बातों की सारी क़लई ही खुल जाती जिन्हें प्रकृत पुस्तक के आधार पर लेखक के विचारों या उद्देश्यों के रूपमें नामांकित किया गया है। इसीसे उक्त विवेचन अथवा शिक्षा-भाग पर, जो आधी पुस्तक के बराबर होते हुए भी सारी पुस्तक की जान थी, कोई समालोचना नहीं की गई, सिर्फ उन असम्बद्ध खण्डवाक्योंको देकर इतना ही लिखदिया है कि—

> "बाबू साहब के उपर्युक्त वाक्यों से आप स्वयं विचार कर सकते हैं कि उनका हृदय कैसा है और वह समाज में कैसी प्रवृत्ति चलाना (गोत्र जाति पांति नीच ऊँच भंगी चमार चांडालादि भेद मेटकर हर एक के साथ विवाह की प्रवृत्ति करना) चाहते हैं"।

इन पंक्तियों में समालोचक ने, बरैकट के भीतर, जिस प्रवृत्ति का उल्लेख किया है उसे ही लेखककी पुस्तक का ध्येय अथवा लक्ष्य प्रकट करते हुए वे आगे लिखते हैं :—

> "उपर्युक्त प्रवृत्तिको चलाने के लिये ही बाबू साहब ने 'वसुदेवजी के विवाहकी चार घटनाओं का (जो कि

बिलकुल झूठ है) उल्लेख करके पुस्तक को समाप्त करदिया था लेकिन फिर बाबू साहबको खयाल आया कि भतीजीके साथभी शादी उचित बतादी तथा नीच भील और व्यभिचारजात दस्सों के साथ भी जायज़ बतादी किन्तु वेश्या तो रह ही गई यह सोचकर आप ने फिर शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरणका दूसरा हिस्सा लिखा और खूबही वेश्यागमनकी शिक्षा दी है"।

इसी तरहके और भी कितनेही वाक्य समालोचना-पुस्तक में जहाँ तहाँ पाये जाते हैं, जिनके कुछ नमूने इस प्रकार हैं:—

(१) "लेकिन बाबू जी को लोगों के लिये यह दिखलाना था कि भतीजी के साथ विवाह करने में कोई हानि नहीं है"। (पृ० ४)

(२) "उन्हें [बाबू साहब को] तो जिस तिस तरह अपना मतलब बनाना है और कामवासना की हवस मिटाने के लिये यदि बाहरसे कोई कन्या न मिले तो अपनीही बहिन भतीजी आदि के साथ विवाह करलेने की आज्ञा दे देना है।" (पृ० ११)

(३) [देवकी की कथा से] "यह सिद्ध करना चाहा है कि विवाह में जाति गोत्र का पचडा व्यर्थ है। यदि काम वासना की हवस पूरी करने के लिये अन्य गोत्रकी कन्या न मिले तो फिर अपनी ही बहिन भतीजी आदिसे विवाह कर लेने में कोई हानि नहीं है।" (पृ० ३७)

(४) "जराकी कथासे आप सिद्ध करना चाहते हैं कि भंगी चमार आदि नीच मनुष्य व शूद्रों के साथ ही विवाह कर लेने में कोई हानि नहीं है।" (पृ० ३८)

(५) "बाबू साहब को तो लोगों को भ्रममें डालकर और सबको वेश्यागमन का खुल्लम खुल्ला उपदेश देकर अपनी

हवस पूरी करना है उन्हें इतनी लम्बी समझ से क्या काम," (पृ० ४५—४६)

(६) "बाबू साहबने जो चारुदत्त की कथा से वेश्या तक को घरमें डाल लेने की प्रवृत्ति चलाना चाहा है यह प्रवृत्ति सर्वथा धर्म और लोक विरुद्ध है। ऐसी प्रवृत्ति से पवित्र जैन धर्म को कलङ्क लग जायगा " (पृ० ४६)

(७) "लाला जौहरीमल जी जैन सर्राफ सरीखे कुछ मन चले लोगोंने ...... बाबू जुगलकिशोर जी के लिखे अनुसार "गृहस्थ के लिये स्त्री की जरूरत होने के कारण चाहे जिसकी कन्या ले लेनी चाहिये" इसी उद्देश्य को उचित समझा " (भूमिका)

अब देखना चाहिये कि, इन सब वाक्योंके द्वारा पुस्तक के प्रतिपाद्य विषय, आशय, उद्देश्य और लेखकके तज्जन्य विचारों आदि के सम्बन्ध में जो घोषणा की गई है वह कहाँ तक सत्य है—दोनों लेखों परसे उसकी कोई उपलब्धि होती है या कि नहीं—और यह तभी बन सकता है अथवा इस विषय का अच्छा अनुभव पाठकों को तभी हो सकता है जबकि उनके सामने प्रत्येक लेखका वह अंश मौजूद हो जिसमें उस लेखके उदाहरण का नतीजा निकाला गया या उससे निकलने वाली शिक्षा को प्रदर्शित किया गया है। अतः यहां पर उन दोनों अंशोंका उद्धृत किया जाना बहुत ही जरूरी जान पड़ता है।

पहले लेखमें, वसुदेव जी के विवाहों की चार घटनाओं का—देवकी, जरा, प्रियंगुसुन्दरी और रोहिणी के साथ होने वाले विवाहों का—उल्लेख करके और यह बतला कर कि ये चारों प्रकार के विवाह उस समय के अनुकूल होते हुए भी आज कल की हवाके प्रतिकूल हैं, जो नतीजा निकाला गया अथवा जिस शिक्षा का उल्लेख किया गया है वह निम्न प्रकार

है, और लेखके इस अंशमें वे सब खंड वाक्य भी आजाते हैं जिन्हें समालोचकजी ने समालोचना के पृष्ठ ३६—४० पर उद्धृत किया है :—

"इन चारों घटनाओंको लिये हुए वसुदेवजी के एक पुराने बहुमान्य शास्त्रीय उदाहरणसे, और साथही वसुदेवजी के उक्त वचनोंको* आदिपुराण के उपर्युल्लिखित वाक्यों† के साथ

---

*वसुदेवजीके वे वचन जो पुस्तक के पृष्ठ ८ पर उद्धृत हैं और जिनमें स्वयंवर विवाहके नियमको सूचित किया गया है इस प्रकार हैं :—

कन्या वृणीते रुचितं स्वयंवरगता वरं ।
कुलीनमकुलीनं वा क्रमो नास्ति स्वयंवरे ॥११–७१॥

—जिनदासकृत हरिवंशपुराण ।

अर्थात्–स्वयंवरको प्राप्त हुई कन्या उस वरको वरण (स्वीकार) करती है जो उसे पसंद होता है, चाहे वह वर कुलीन हो या अकुलीन। क्योंकि स्वयंवरमें इस प्रकारका—वरके कुलीन या अकुलीन होने का—कोई नियम नहीं होता ।

†आदिपुराणके वे पृष्ट ६ पर उद्धृत हुए वाक्य इस प्रकार हैं:—

सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः ।
विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठोहि स्वयंवरः ॥४४-३२॥
तथा स्वयंवरस्येमे नाभूवन् यद्यकम्पनाः ।
कःप्रवर्त्तयितान्योऽस्य मार्गस्यैष सनातनः॥४५-५४॥
मार्गांश्चिरंतनान्येऽत्र भोगभूमितिरोहितान् ।
कुर्वन्ति नूतनान्सन्तः सद्भिःपूज्यास्त एव हि॥४५-५५

इनमेंसे पहले पद्यमें स्वयंवरविधिको 'सनातन मार्ग' लिखनेके

मिलाकर पढ़नेसे विवाह-विषय पर बहुत कुछ प्रकाश पड़ता है और उसकी अनेक समस्याएँ खुदबखुद (स्वयमेव) हल होजाती हैं। इस उदाहरणसे वे सब लोग बहुत कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं जो प्रचलित रीति-रिवाजोंको ब्रह्म-वाक्य तथा आप्त-वचन समझे हुएहैं, अथवा जो रूढ़ियोंके इतने भक्त हैं कि उन्हें गणितशास्त्रके नियमोंकी तरह अटल सिद्धांत समझते हैं और इसलिये उनमें ज़रा भी फेरफार करना जिन्हें रुचिकर नहीं होता; जो ऐसा करनेको धर्मके विरुद्ध चलना और जिनेन्द्रभगवानकी आज्ञका उल्लङ्घन करना मान बैठे हैं; जिन्हें विवाहमें कुछ संख्या प्रमाण गोत्रोंके न बचाने तथा अपने वर्णसे भिन्न वर्णके साथ शादीकरनेसे धर्मके डूबजानेका भय लगा हुआ है; इससेभीअधिक जो एक ही धर्म और एक ही आचारके मानने तथा पालनेवाली अग्रवाल, खण्डेलवाल आदि समानजातियोंमें भी परस्पर रोटी बेटी व्यवहार एक करने को अनुचित समझते हैं—पातक अथवा पतनकी शङ्कासे जिनका हृदय सन्तप्त है-और जो अपनी एक जातिमें भी आठ आठगोत्रों तकको टालनेके चक्करमें पड़े हुए हैं। ऐसे लोगों को वसुदेवजीका उक्त उदाहरण और उसके साथ विवाहसम्बंधीवर्तमान रीति-रिवाजोंका मीलान बतलायगा कि

साथ साथ उसे सम्पूर्ण विवाह-विधानों में सबसे अधिक श्रेष्ठ (वरिष्ठ) विधान प्रकट किया है और पिछले दोनों पद्योंमें, जो भरत चक्रवर्त्ती की ओर से कहे गये पद्य हैं, यह सूचित किया गया है कि युगकी आदिमें राजा अकम्पन-द्वारा इस विवाहविधि (स्वयंवर) का सबसे पहले अनुष्ठान होने पर भरत चक्रवर्त्ती ने उसका अभिनंदन किया था और उन लोगों को सत्पुरुषों द्वारा पूज्य ठहराया था जो ऐसे सनातन मार्गोंका पुनरुद्धार करें।

रीति-रिवाज कभी एक हालतमें नहीं रहा करते, वे सर्वज्ञ भगवान की आज्ञाएँ और अटल सिद्धांत नहीं होते, उनमें समयानुसार बराबर फेरफार और परिवर्तन की ज़रूरत हुआ करती है। इसी ज़रूरतने वसुदेवजीके समय और वर्तमान समयमें ज़मीन आसमानका सा अन्तर डाल दिया है। यदि ऐसा न होता तो वसुदेव जीके समयके विवाहसम्बंधी नियम-उपनियम इस समय भी स्थिर रहते और उसी उत्तम तथा पूज्य दृष्टिसे देखे जाते जैसे कि वे उससमय देखे जातेथे। परन्तु ऐसा नहीं है और इसलिये कहना होगा कि वे सर्वज्ञ भगवान्‌की आज्ञाएँ अथवा अटल सिद्धान्त नहीं थे और न हो सकते हैं। दूसरे शब्दोंमें यों कहना चाहिये कि यदि वर्तमान वैवाहिक रीतिरिवाजोंको सर्वज्ञ-प्रणीत-सार्वदेशिक और सार्वकालिक अटल सिद्धान्त—माना जाय तो यह कहना पड़ेगा कि वसुदेवजीने प्रतिकूल आचरणद्वारा बहुत स्पष्टरूपसे सर्वज्ञकी आज्ञाका उल्लङ्घन किया है। ऐसी हालत में आचार्यों द्वारा उनका यशोगान नहीं होना चाहिये था, वे पातकी समझे जाकर कलङ्कित किये जानेके योग्य थे। परन्तु ऐसा नहीं हुआ और न होना चाहिये था; क्योंकि शास्त्रों द्वारा उस समयके मनुष्यों की प्रायः ऐसी ही प्रवृत्ति पाई जाती है, जिससे वसुदेवजी पर कोई कलङ्क नहीं आसकता। तब क्या यह कहना होगा कि उस वक्तके वे रीति-रिवाज सर्वज्ञप्रणीत थे और आजकलके सर्वज्ञप्रणीत अथवा जिनभाषित नहीं हैं? ऐसा कहने पर आज कलके रीति-रिवाजोंको एकदम उठाकर उनके स्थानमें वही वसुदेवजीके समयके रीति-रिवाज क़ायम कर देना ही समुचित न होगा बल्कि साथ ही अपने उन सभी पूर्वजोंको कलङ्कित और दोषी भी ठहराना होगा जिनके कारण वे पुराने (सर्वज्ञभाषित) रीति-रिवाज उठकर उनके स्थान में वर्तमान रीति-रिवाज क़ायम हुए और फिर हम तक पहुँचे। परन्तु ऐसा

कहना और ठहराना दुःसाहस मात्र होगा। वह कभी इष्ट नहीं होसकता और न युक्ति युक्त ही प्रतीत होता है। इस लिये यही कहना समुचित होगा कि उस वक्तके वे रीति-रिवाज भी सर्वज्ञ भाषित नहीं थे। वास्तवमें गृहस्थों का धर्म दो प्रकारका वर्णन किया गया है, एक लौकिक और दूसरा पारलौकिक। लौकिक धर्म लोकाश्रय और पारलौकिक आगमाश्रय होता है*। विवाह-कर्म गृहस्थोंके लिये एक लौकिक धर्म है और इसलिये वह लोकाश्रित है—लौकिक जनोंकी देशकालानुसार जो प्रवृत्ति होती है उसके अधीन है—लौकिक जनों की प्रवृत्ति हमेशा एक रूपमें नहीं रहा करती। वह देशकालकी आवश्यकताओं के अनुसार, कभी पञ्चायतियोंके निर्णय द्वारा और कभी प्रगतिशीलव्यक्तियों के उदाहरणोंको लेकर, बराबर बदला करती है और इसलिये वह पूर्णरूपमें प्रायः कुछ समयके लिये ही स्थिर रहा करती है। यही वजह है कि भिन्न भिन्न देशों, समयों और जातियोंके विवाहविधानोंमें बहुत बड़ा अन्तर पाया जाता है। एक समय था जब इसी भारतभूमि पर सगे भाई बहिन भी परस्पर स्त्री पुरुष होकर रहा करते थे और इतने पुण्याधिकारी समझे जाते थे कि मरने पर उनके लिये नियमसे देवगति का विधान किया गया है+। फिर वह समय भी आया जब उक्तप्रवृत्तिका निषेध किया गया और उसे अनुचित ठहराया गया। परन्तु उस समय गोत्र तो गोत्र एक कुटुम्ब में विवाह होना, अपनेसे भिन्न वर्णके साथ शादीका किया जाना और शूद्र ही नहीं किन्तु म्लेच्छों तककी कन्याओंसे विवाह करना भी अनुचित नहीं माना

---

*द्वौ हि धर्मौ गृहस्थानां लौकिकः पारलौकिकः।
लोकाश्रयो भवेदाद्यः परः स्यादागमाश्रयः॥—सोमदेवः।

+ यह कथन उस समयका है जबकि यहाँ भोगभूमि प्रचलित थी।

गया । साथ ही, मामा-फूफीकी कन्याओं से विवाह करनेका तो आम दस्तूर रहा और वह एक प्रशस्त विधान समझा गया । इसके बाद समयके हेरफेरसे उक्त प्रवृत्तियोंका भी निषेध प्रारम्भ हुआ, उनमें भी दोष निकलने लगे पापोंकी कल्पनायें होने लगीं—और वे सब बदलते बदलते वर्तमानके ढाँचेमें ढल गईं। इस अर्सेमें सैकड़ों नवीन जातियों, उपजातियों और गोत्रोंकी कल्पना होकर विवाहक्षेत्र इतना सङ्कीर्ण बन गया कि उसके कारण आजकलकी जनता बहुत कुछ हानि तथा कष्ट उठा रही है और क्षतिका अनुभव कर रही है—उसे यह मालूम होने लगा है कि कैसी कैसी समृद्धिशालिनी जातियाँ इन वर्तमान रीति-रिवाजोंके चुङ्गलमें फँसकर संसारसे अपना अस्तित्व उठा चुकी हैं और कितनी मृत्युशय्या पर पड़ी हुई हैं—इससे अब वर्तमान रीतिरिवाजोंके विरुद्ध भी आवाज़ उठनी शुरू हो गई है। समय उनका भी परिवर्तन चाहता है। संक्षेपमें, यदि सम्पूर्ण जगत्के भिन्न भिन्न देशों, समयों और जातियों के कुछ थोड़े थोड़े से ही उदाहरण एकत्र किये जायँ तो विवाह-विधानोंमें हज़ारों प्रकार के भेद उपभेद और परिवर्तन दृष्टि-गोचर होंगे, और इस लिये कहना होगा कि यह सब समय समयकी ज़रूरतों, देश देशकी आवश्यकताओं और जाति जातिके पारस्परिक व्यवहारोंका नतीजा है; अथवा इसे कालचक्रका प्रभाव कहना चाहिए । जो लोग कालचक्र की गतिको न समझ कर एक ही स्थान पर खड़े रहते हैं और अपनी पोज़ीशन (Position) को नहीं बदलते—स्थितिको नहीं सुधारते—वे निःसन्देह कालचक्रके आघातसे पीड़ित होते और कुचले जाते हैं । अथवा संसारसे उनकी सत्ता उठ जाती है । इस सब कथनसे अथवा इतने ही संकेतसे लोकाश्रित (लौकिक) धर्मों का बहुत कुछ रहस्य समझ में आसकता है ।

साथ ही, यह मालूम हो जाता है कि वे कितने परिवर्तनशील हुआ करते हैं। ऐसी हालतमें विवाह जैसे लौकिक धर्मों और सांसारिक व्यवहारोंके लिये किसी आगमका आश्रय लेना, अर्थात् यह ढूँढ खोज लगाना कि आगममें किस प्रकारसे विवाह करना लिखा है, बिलकुल व्यर्थ है। कहा भी है—

"संसारव्यवहारे तु स्वतःसिद्धे वृथागमः*।"

अर्थात्-संसार व्यवहारके स्वतः सिद्ध होनेसे उसके लिये आगम की ज़रूरत नहीं।

वस्तुतः आगम ग्रन्थों में इस प्रकारके लौकिक धर्मों और लोकाश्रित विधानोंका कोई क्रम निर्धारित नहीं होता। वे सब लोकप्रवृत्ति पर अवलम्बित रहते हैं। हाँ, कुछ त्रिवर्णाचारों जैसे अनार्ष ग्रन्थोंमें विवाह-विधानोंका वर्णन ज़रूर पाया जाता है। परन्तु वे आगम ग्रन्थ नहीं हैं—उन्हें आप्त भगवान्‌के वचन नहीं कह सकते और न वे आप्तवचनानुसार लिखेगये हैं—इतने पर भी कुछ ग्रन्थ तो उनमें से बिलकुल ही जाली और बनावटी हैं; जैसा कि 'जिनसेनत्रिवर्णाचार' और 'भद्रबाहुसंहिताके' के परीक्षा-लेखों से प्रगट है ×। वास्तवमें ये सब ग्रन्थ एक प्रकारके लौकिक ग्रन्थ हैं। इनमें प्रकृत विषयके वर्णनको तात्कालिक और तद्देशीय रीतिरिवाजोंका उल्लेख मात्र समझना चाहिये, अथवा यों कहना चाहिये कि ग्रन्थकर्त्ताओंको उस प्रकारके रीतिरिवाजोंको प्रचलित करना इष्ट था। इससे अधिक उन्हें

---

*यह श्रीसोमदेव आचार्य्य का वचन है।

× ये सब लेख 'ग्रन्थपरीक्षा' नामसे पहिले जैनहितैषी पत्रमें प्रकाशित हुए थे और अब कुछ समयसे अलग पुस्तकाकार भी छप गये हैं। बम्बई और इटावा आदि स्थानोंसे मिलते हैं।

और कुछ भी महत्व नहीं दिया जासकता--वे आजकल प्रायः इतने ही काम के हैं—एकदेशीय, लौकिक और सामयिक ग्रन्थ होनेसे उनका शासन सार्वदेशिक और सार्वकालिक नहीं हो सकता। अर्थात्, सर्व देशों और सर्व समयों के मनुष्योंके लिये वे समान रूपसे उपयोगी नहीं होसकते। और इसलिये केवल उनके आधार पर चलना कभी युक्तिसंगत नहीं कहला सकता। विवाह-विषयमें आगमका मूलविधान सिर्फ इतना ही पाया जाता है कि वह गृहस्थाश्रमका वर्णन करते हुए गृहस्थ के लिये आम तौर पर गृहिणीकी अर्थात् एक स्त्रीकी ज़रूरत प्रकट करता है। वह स्त्री कैसी, किस वर्णकी, किस जातिकी, किन किन सम्बन्धोंसे युक्त तथा रहित और किस गोत्रकी होनी चाहिये अथवा किस तरह पर और किस प्रकारके विधानोंके साथ विवाह कर लानी चाहिये, इन सब बातोंमें आगम प्रायः कुछ भी हस्तक्षेप नहीं करता। ये सब विधान लोकाश्रित हैं, आगमसे इनका प्रायः कोई सम्बन्ध विशेष नहीं है। यह दूसरी बात है कि आगममें किसी घटना विशेषका उल्लेख करते हुए उनका उल्लेख आजाय और तात्कालिकदृष्टिसे उन्हें अच्छा या बुरा भी बतला दिया जाय परन्तु इससे वे कोई सार्वदेशिक और सार्वकालिक अटल सिद्धान्त नहीं बन जाते— अर्थात्, ऐसे कोई नियम नहीं हो जाते कि जिनके अनुसार चलना सर्व देशों और सर्व समयोंके मनुष्योंके लिये बराबर ज़रूरी और हितकारी हो। हाँ, इतना ज़रूर है कि आगमकी दृष्टिमें सिर्फ वेही लौकिकविधियाँ अच्छी और प्रमाणिक समझी जा सकती हैं जो जैन सिद्धान्तोंके विरुद्ध न हों, अथवा जिनके कारण जैनियोंकी श्रद्धा (सम्यक्त्व) में बाधा न पड़ती हो और न उनके व्रतोंमें ही कोई दूषण लगता हो। इस दृष्टिको सुरक्षित रखते हुए, जैनी लोग प्रायः सभी लौकिक विधियोंको खुशीसे

स्वीकार कर सकते हैं और अपने वर्त्तमान रीति-रिवाजों में देशकालानुसार, यथेष्ट परिवर्तन कर सकते हैं* । उनके लिये इसमें कोई बाधक नहीं है । अस्तु; इस सम्पूर्ण विवेचनसे प्राचीन और अर्वाचीनकालके विवाह विधानोंकी विभिन्नता, उनका देश कालानुसार परिवर्त्तन और लौकिक धर्मोंका रहस्य, इन सब बातोंका बहुत कुछ अनुभव प्राप्त हो सकता है, और साथ ही यह भले प्रकार समझमें आ सकता है कि वर्त्तमान रीति-रिवाज कोई सर्वज्ञभाषित ऐसे अटल सिद्धान्त नहीं हैं कि जिनका परिवर्त्तन न हो सके अथवा जिनमें कुछ फेरफार करनेसे धर्मके डूबजानेका कोई भय हो। हम, अपने सिद्धान्तोंका विरोध नकरते हुए, देश काल और जाति की आवश्यकताओंके अनुसार उन्हें हर वक्त बदल सकते हैं वे सब हमारे ही कायम किए हुए नियम हैं और इसलिए हमें उनके बदलनेका स्वतः अधिकार प्राप्त है । इन्हीं सब बातोंको लेकर एक शास्त्रीय उदाहरणके रूपमें यह नोट(लेख)लिखा गया है । आशा है कि हमारे जैनी भाई इससे जरूर कुछ शिक्षा ग्रहण करेंगे और विवाहतत्त्वको समझ कर जिसके समझनेके लिये 'विवाहका उद्देश्य' × नामक निबन्ध भी साथमें पढ़ना विशेष उपकारी होगा, अपने वर्तमान रीति-रिवाजों में यथोचित फेरफार करनेके लिये समर्थ होंगे । और इस तरह पर कालचक्र के आघातसे बचकर अपनी सत्ताको चिरकाल तक यथेष्ट रीतिसे बनाये रक्खेंगे । "

लेखके इस अंश अथवा शिक्षा भाग से स्पष्ट है कि लेखका

---

* सर्व एव हि जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः ।
यत्र सम्यक्त्वहानिर्न यत्र न व्रतदूषणम् ॥—सोमदेवः ।

× यह पुस्तक 'जैनग्रन्थरत्नाकर कार्यालय' बम्बई द्वारा प्रकाशित हुई है, और लेखकके पाससे बिना मूल्य भी मिलती है ।

प्रतिपाद्य विषय, आशय और उद्देश्य वह नहीं हैं जो समालोचकजी ने प्रकट किया है—इसमें कहीं भी यह प्रतिपादन नहीं किया गया और न ऐसा कोई विधान किया गया है कि गोत्र, जाति पांति, नीच ऊँच, भंगी चमार चाण्डालादिके भेदोंको उठा देना चाहिये, उन्हें मेटकर हरएक के साथ विवाह करलेना चाहिये, चाहे जिसकी कन्या ले लेनी चाहिये, अथवा भंगी चमार आदि नीच मनुष्यों के साथ विवाह करलेने में कोई हानि नहीं है; और न कहीं पर यह दिखलाया गया अथवा ऐसी कोई आज्ञा दीगई है कि आजकल अपनी ही बहिन भतीजी के साथ विवाह कर लेनेमें कोई हानि नहीं है, अन्य गोत्रकी कन्या न मिलने पर उसे करलेना चाहिये—बल्कि बहुत स्पष्ट शब्दोंमें वसुदेवजी के समय और इस समयके रीति रिवाजों—विवाह विधानोंमें "जमीन आस्मान का सा अन्तर" बतलाते हुए, उनपर एक खासा विवेचन उपस्थित किया गया है और उसमें रीति-रिवाजों की स्थिति, उनके देशकालानुसार परिवर्तन तथा लौकिक धर्मोंके रहस्यको सूचित किया गया है। साथही, यह बतलाया गया है कि "वर्तमान रीति रिवाज कोई सर्वज्ञ भाषित ऐसे अटल सिद्धान्त नहीं हैं कि जिनका परिवर्तन न हो सके अथवा जिनमें कुछ फेरफार करने से धर्मके डूब जानेका कोई भयहो, हम अपने सिद्धान्तों का विरोध न करते हुए देशकाल और जातिकी आवश्यक्ताओं के अनुसार उन्हें हरवक्त बदल सकते हैं, वे सबहमारे ही कायम किये हुए नियम हैं और इसलिये हमें उनके बदलनेका स्वतः अधिकार प्राप्त है।" परन्तु उनमें क्या कुछ परिवर्तन अथवा तबदीली होनी चाहिये, इसपर लेखक ने अपनी कोई राय नहीं दी। सिर्फ इतना ही सूचित किया है कि वह परिवर्तन (फेरफार) "यथोचित" होना चाहिये, और 'यथोचित' की परिभाषा वही हो सकती है जिसे

"आगमकी दृष्टि" बतलाया गया है और जिसे सुरक्षित रखते हुए परिवर्तन करने की प्रेरणा की गई है। इसके सिवाय, वसुदेवजी के समयके विवाह-विधानों की इस समयके लिये कहीं परभी कोई हिमायत नहीं की गई, बल्कि "ऐसा नहीं है" इत्यादि शब्दोंके द्वारा उनके विषयमें यह स्पष्ट घोषित किया गया है कि वे आजकल स्थिर नहीं हैं और न उस उत्तम तथा पूज्य दृष्टिसे देखे जाते हैं जिससे कि वे उस समय देखे जाते थे और इसलिये कहना होगा कि वे सर्वज्ञ भगवान की आज्ञाएँ अथवा अटल सिद्धान्त नहीं थे और न हो सकते हैं। जो लोग वसुदेवजी के समयके रीति-रिवाजोंको सर्वज्ञप्रणीत और वर्तमान रीति-रिवाजों को असर्वज्ञभाषित कहतेहों और इस तरह पर अपने उन पूर्वजोंको कलंकित तथा दोषी ठहराते हों जिनके कारण वसुदेवजीके समय के वे पुराने (सर्वज्ञभाषित) रिति-रिवाज उठकर उनके स्थानमें वर्तमान रीति-रिवाज कायम हुए उन्हें लक्ष्य करके साफ़ लिखा गया है कि उनका "ऐसा कहना और ठहराना दुःसाहस मात्र होगा, वह कभी इष्ट नहीं हो सकता और न युक्तियुक्तही प्रतीत होता है।" इससे लेखमें वसुदेवजी के समयके रीति रिवाजोंकी कोई खास हिमायत नहीं कीगई, यह और भी स्पष्ट होजाता है। केवल प्राचीन और अर्वाचीन रीति-रिवाजों में बहुत बड़े अन्तर को दिखलाने, उसे दिखलाकर, रीति-रिवाजोंकी असलियत, उनकी परिवर्तनशीलता और लौकिक धर्मोंके रहस्य पर एक अच्छा विवेचन उपस्थित करने और उसके द्वारा वर्तमान रीति-रिवाजों में यथोचित परिवर्तनको समुचित ठहराने के लिये ही वसुदेवजी के उदाहरणमें उनके जीवनकी इन चार घटनाओंको चुना गया था। इससे अधिक लेखमें उनका और कुछ भी उपयोग नहीं था। और इसीसे लेखके अन्तमें लिखा गया था कि–

"इन्हीं सब बातोंको लेकर एक शास्त्रीय उदाहरण के रूपमें यह नोट लिखा गया है ।"

लेखकी ऐसी स्पष्ट हालतमें पाठक स्वयं समझ सकते हैं कि समालोचक जी ने अपने उक्त वाक्यों और उन्हीं जैसे दूसरे वाक्यों द्वारा भी पुस्तकके जिस आशय, उद्देश्य, अथवा प्रतिपाद्य विषयकी घोषणा की है वह पुस्तकसे बाहर की चीज़ है—प्रकृत लेखसे उसका कोई सम्बंध नहीं है—और इसलिये उसे समालोचक द्वारा परिकल्पित अथवा उन्हीं की मनःप्रसूत समझना चाहिये । जान पड़ता है वे अपनी नासमझीसे अथवा किसी तीव्र कषायके वशवर्ती होकर ही ऐसा करने में प्रवृत्त हुए हैं। परन्तु किसी भी कारणसे सही, इसमें संदेह नहीं कि उन्होंने ऐसा करके समालोचकके कर्त्तव्यका भारी खून किया है । समालोचक का यह धर्म नहीं है कि वह अपनी तरफ़से कुछ बातें खड़ी करके उन्हें समालोच्य पुस्तककी बातें प्रकट करे, उनके आधार पर अपनी समालोचना का रंग जमाए और इस तरह पर पाठकों तथा सर्व साधारण को धोखे में डाले । यह तो महानीचातिनीच कर्म है । समालोचकका कर्तव्य है कि पुस्तकमें जो बात जिसरूप से कही गई है उसे प्रायः उसी रूपमें पाठकों के सामने रक्खे और फिर उसके गुण-दोषों पर चाहे जितना विवेचन उपस्थित करे; उसे समालोच्य पुस्तक की सीमाके भीतर रहना चाहिये—उससे बाहर कदापि नहीं जाना चाहिये—उसका यह अधिकार नहीं है कि जो बात पुस्तकमें विधि या निषेध रूपसे कहीं भी नहीं कही गई उसकी भी समालोचना करे अथवा पुस्तकसे घृणा उत्पन्न कराने के लिये पुस्तकके नाम पर उसका स्वयं प्रयोग करे—उसे एक हथियार बनाए । भंगी, चमार और चांडालका नाम तकभी पुस्तकमें कहीं नहीं है, फिरभी पुस्तक के नाम पर उनके विवाह

की जो बात कही गई है वह ऐसी ही घृणोत्पादक दृष्टि अथवा अनधिकार चेष्टा का फल है । भूमिका में एक वाक्य "बाबू जुगलकिशोरजी के लिखे अनुसार" इन शब्दों के अनन्तर निम्न प्रकार से डबल कामाज़ के भीतर दिया है और इस तरह पर उसे लेखकका वाक्य प्रकट किया है—

"गृहस्थके लिये स्त्री की ज़रूरत होनेके कारण चाहे जिसकी कन्या ले लेनी चाहिये"

परन्तु समालोच्य पुस्तक में यह वाक्य कहीं पर भी नहीं है, और न लेखककी किसी दूसरी पुस्तक अथवा लेखमें ही पाया जाता है; और इसलिये इसे समालोचकजीकी सत्यवादिता और अकूटलेखकता का एक दूसरा नमूना समझना चाहिये ! जान पड़ता है आप ऐसे ही सत्यके-अनुयायी अथवा भक्त हैं ! और इसीलिये दूसरों का नग्न सत्य भी आपको सर्वथा मिथ्या और सफ़ेद झूठ नज़र आता है !!

यह तो हुई पहले लेखके शिक्षांश की बात, अब दूसरे लेखके शिक्षांको लीजिये ।

द्वितीय लेखका उद्देश्य और उसका स्पष्टीकरण ।

समालोचकजी ने पहले लेखके उदाहरणांशों को जिस प्रकार अपनी समालोचनामें उद्धृत किया है उस प्रकारसे दूसरे लेख के उदाहरणांशको उद्धृत नहीं किया और इसलिये यहाँ पर इस दूसरे छोटेसे लेखको पूरा उद्धृत कर देना ही ज्यादा उचित मालूम होता है, और वह इस प्रकार है—

"हरिवंशपुराणादि जैनकथाग्रंथोंमें चारुदत्त सेठकी एक

प्रसिद्ध कथा है। वह सेठ जिस वेश्या पर आसक्त होकर वर्षों-तक उसके घरपर, बिना किसी भोजन पानादि सम्बन्धी भेदके, एकत्र रहा था और जिसके कारण वह एक बार अपनी संपूर्ण धनसंपत्तिको भी गँवा बैठा था उसकानाम 'वसंतसेना' था। इस वेश्याकी माताने, जिस समय धनाभावके कारण चारुदत्त सेठको अपने घरसे निकाल दिया और वह धनोपार्जन के लिये विदेश चला गया उस समय वसंतसेनाने, अपनी माताके बहुत कुछ कहने पर भी, दूसरे किसी धनिक पुरुषसे अपना संबंध जोड़ना उचित नहीं समझा और तब वह अपनी माताके घरका ही परित्याग कर चारुदत्तके पीछे उसके घरपर चली गई। चारुदत्तके कुटुम्बियोंने भी वसंतसेनाको आश्रय देनेमें कोई आनाकानी नहीं की। वसन्तसेनाने उनके समुदार आश्रयमें रहकर एक आर्यिका के पाससे श्रावकके १२ व्रत ग्रहण किये, जिससे उसकी नीचपरिणति पलटकर उच्च तथा धार्मिक बन गई; और वह चारुदत्तकी माता तथा स्त्रीकी सेवा करती हुई निःसंकोच भाव से उनके घरपर रहने लगी। जब चारुदत्त विपुल धन सम्पत्तिका स्वामी बनकर विदेश से अपने घरपर वापिस आया और उसे वसंतसेनाके स्वगृह पर रहने आदि का हाल मालूम हुआ तब उसने बड़े हर्षके साथ वसंतसेना को अपनाया—अर्थात्, उसे अपनी स्त्री रूपसे स्वीकृत किया। चारुदत्तके इस कृत्य पर—अर्थात्, एक वेश्या जैसी नीच स्त्री को खुल्लमखुल्ला घरमें डाल लेनेके अपराध पर—उस समयकी जाति—बिरादरीने चारुदत्तको जातिसे च्युत अथवा बिरादरी से खारिज नहीं किया और न दूसरा ही उसके साथ कोई घृणा का व्यवहार किया गया। वह श्रीनेमिनाथ भगवान के चचा वसुदेवजी जैसे प्रतिष्ठित पुरुषोंसे भी प्रशंसित और सम्मानित रहा। और उसकी शुद्धता यहाँ तक बनी रही कि वह

अन्तको उसके दिगम्बर मुनि तक होने में भी कुछ बाधक न होसकी। इस तरह पर एक कुटुम्ब तथा जाति—बिरादरी के सद्व्यवहार के कारण दो व्यसनासक्त व्यक्तियों को अपने उद्धार का अवसर मिला।

इस पुराने शास्त्रीय उदाहरणसे वे लोग कुछ शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं जो अपने अनुदार विचारों के कारण ज़रा ज़रा सी बात पर अपने जाति भाइयोंको जातिसे च्युत करके—उनके धार्मिक अधिकारोंमें भी हस्तक्षेप करके—उन्हें सन्मार्गसे पीछे हटा रहे हैं और इस तरह पर अपनी जातीय तथा संघशक्तिको निर्बल और निःसत्व बनाकर अपने ऊपर अनेक प्रकार की विपत्तियों को बुलाने के लिये कमर कसे हुए हैं। ऐसे लोगों को संघशक्ति का रहस्य जानना चाहिये और यह मालूम करना चाहिये कि धार्मिक और लौकिक प्रगति किस प्रकार से होसकती है। यदि उस समयकी जाति—बिरादरी उक्त दोनों व्यसनासक्त व्यक्तियोंको अपने में आश्रय न देकर उन्हें अपने से पृथक कर देती, घृणा की दृष्टि से देखती और इस प्रकार उन्हें सुधरने का कोई अवसर न देती तो अन्त में उक्त दोनों व्यक्तियों का जो धार्मिक जीवन बना है वह कभी न बन सकता। अतः ऐसे अवसरों पर जाति बिरादरी के लोगों को सोच समझकर, बड़ी दूरदृष्टि के साथ काम करना चाहिये। यदि वे पतितों का स्वयं उद्धार नहीं कर सकते तो उन्हें कमसे कम पतितों के उद्धार में बाधक न बनना चाहिये और न ऐसा अवसर ही देना चाहिये जिससे पतितजन और भी अधिकताके साथ पतित होजायँ।"

पाठकजन देखें और खूब गौरसे देखें, यही वह लेख है जिसकी बाबत समालोचकजी ने प्रकट किया है कि उसमें खूब ही वेश्यागमनकी शिक्षा कीगई और सबको उसका खुल्लम खुल्ला उपदेश दिया गया है, अथवा उसके द्वारा वेश्या तकको

घरमें डालने की प्रवृत्ति चलाना चाहा गया है। वेश्यागमनकी खूब ही शिक्षा और उपदेश देना तो दूर रहा, लेखमें एकभी शब्द ऐसा नहीं है जिसके द्वारा वेश्यागमनका अनुमोदन या अभिनंदन किया गया हो अथवा उसे शुभकर्म बतलाया हो। प्रत्युत इसके, चारुदत्त और उस वेश्याको "दोव्यसनासक्त व्यक्ति" तथा "पतित जन" सूचित किया है, वेश्याको "नीच स्त्री" और उसकी पूर्व परिणति को (१२ व्रतोंके ग्रहणसे पहले वेश्या जीवनकी अवस्थाको) "नीच परिणति" बतलाया है और एक वेश्या जैसी नीच स्त्रीको खुल्लम खुल्ला घरमें डाल लेनेके कर्म को "अपराध" शब्दसे अभिहित किया है। साथही, उदाहरणांश और शिक्षांश में दिये हुए दो वाक्यों द्वारा यह स्पष्ट घोषित किया गया है कि उक्त दोनों व्यसनासक्त व्यक्ति अपने उद्धार से पहले पतित दशामें थे, बिगड़े हुए थे और उनका जीवन अधार्मिक था; एक कुटुम्ब तथा जाति बिरादरीके सद्व्यवहार के कारण उन्हें अपने 'उद्धार' तथा 'सुधार' का अवसर मिला और उनका जीवन अन्तको 'धार्मिक' बन गया।

इतने परभी समालोचकजी उक्त लेखमें वेश्यागमनके महोपदेशका स्वप्न देख रहे हैं और एक ऐसे व्यक्ति पर वेश्यागमन का उपदेश देकर अपनी हवस पूरी करने का मिथ्या आरोप (इलजाम) लगा रहे हैं जो २५ वर्ष से भी पहले से वेश्याओंके नृत्य देखने तकका त्यागी है-उसके लिये प्रतिज्ञाबद्ध है—और ऐसे विवाहोंमें शामिल नहीं होता जिनमें वेश्याएँ नचाई जाती हों। समलोचकजीकी इस बुद्धि, परिणति, सत्यवादिता और समालोचकीय कर्तव्य-पालनकी निःसन्देह बलिहारी है!! जान पड़ता है आप एकदम ही ग्रहपीडित अथवा उन्मत्त हो उठे हैं और आपने अकाण्ड ताण्डव आरम्भ कर दिया है।

रही वेश्याको घरमें डालने की प्रवृत्ति चलानेकी बात,

यद्यपि किसी घटना का केवल उल्लेख करने से ही यह लाज़िमी नहीं आता कि उसका लेखक वैसी प्रवृत्ति चलाना चाहता है फिरभी उस उल्लेखमात्रसे ही यदि वैसी प्रवृत्ति की इच्छाका होना लाज़िमी मान लिया जाय तो समालोचकजी को कहना होगा कि श्रीजिनसेनाचार्यने एक मनुष्यके जीतेजी उसकी स्त्रीको घरमें डाल लेने की, दूसरेकी कन्याको हरलानेकी और वेश्या से विवाह कर लेनेकी भी प्रवृत्तिको चलाना चाहा है, क्योंकि उन्होंने अपने हरिवंशपुराणमें ऐसा उल्लेख किया है कि राजा सुमुखने वीरक सेठके जीतेजी उसकी स्त्री 'वनमाला' को अपने घरमें डाल लिया था, कृष्णजी रुक्मिणीको हर कर लाये थे, और अमोघदर्शन राजाके पुत्र चारुचंद्रने 'काम पताका' नामकी वेश्याके साथ अपना विवाह किया था। यदि सचमुच ही इन घटनाओंके उल्लेखमात्रसे श्रीजिनसेनाचार्य, समालोचकजीकी समझके अनुसार, वैसी इच्छाके अपराधी ठहरते हैं तो लेखक भी ज़रूर अपराधी है और उसे अपने उस अपराधके लिये ज़राभी चिन्ता तथा पश्चात्ताप करनेकी ज़रूरत नहीं है। और यदि समालोचकजी जिनसेनाचार्य पर अथवा उन्हीं जैसे उल्लेख करने वाले और भी कितनेही आचार्यों तथा विद्वानोंपर वैसी प्रवृत्ति चलानेका आरोप लगानेके लिये तय्यार नहीं हैं—उसे अनुचित समझते हैं—तो लेखकपर उनका वैसा आरोप लगाना किसी तरहभी न्याय संगत नहीं होसकता। वास्तवमें यह लेख नतो वैसे किसी आशय या उद्देश्यसे लिखा गया और न उसके किसी शब्द परसे हो वैसा आशय या उद्देश्य व्यक्त होता है जैसाकि समालोचकजीने प्रकट किया है। लेखका स्पष्ट उद्देश्य उसके अन्तिमांश में बहुत थोड़ेसे ऊँचे तुले शब्दोंद्वारा सूचित किया गया है और उन परसे हर एक विचारशील यह नतीजा निकाल सकता है कि अन्तर्जाति-विरा-

इसीके आधुनिक दण्डविधानोंको लक्ष्य करके लिखा गया है।

जाति-पंचायतों का दण्ड-विधान ।

आजकल, हमारे बहुधा जैनी भाई अपने अनुदार विचारों के कारण ज़रा ज़रा सी बात पर अपने जाति भाइयोंको जातिसे च्युत अथवा बिरादरीसे खारिज करके—उनके धार्मिक अधिकारों में भी हस्तक्षेप करके—उन्हें सन्मार्गसे पीछे हटा रहे हैं और इस तरह पर अपनी जातीय तथा संघशक्तिको निर्बल और निःसत्त्व बनाकर अपने ऊपर अनेक प्रकारकी विपत्तियों को बुलाने के लिये कमर कसे हुए हैं। ऐसे लोगोंको चारुदत्त के इस उदाहरण-द्वारा यह चेतावनी की गई है कि वे दण्ड-विधानके ऐसे अवसरों पर बहुतही सोच-समझ और गहरे विचार तथा दूरदृष्टिसे काम लिया करें। यदि वे पतितोंका स्वयं उद्धार नहीं कर सकते तो उन्हें कमसे कम पतितोंके उद्धारमें बाधक न बनना चाहिये और न ऐसा अवसरही देना चाहिये जिससे पतितजन और भी अधिकताके साथ पतित होजायँ। किसी पतित भाई के उद्धारकी चिन्ता न करके उसे जातिसे खारिज कर देना और उसके धार्मिक अधिकारोंको भी छीन लेना ऐसा ही कर्म है जिससे वह पतित भाई, अपने सुधार का अवसर न पाकर, और भी ज्यादा पतित होजाय, अथवा यों कहिये कि वह डूबते को ठोकर मारकर शीघ्र डुबो देने के समान है। तिरस्कार से प्रायः कभी किसी का सुधार नहीं होता, उससे तिरस्कृत व्यक्ति अपने पापकार्यमें और भी दृढ़ हो जाता है और तिरस्कारी के प्रति उसकी ऐसी शत्रुता बढ़जाती है जो जन्म जन्मान्तरोंमें अनेक दुःखों तथा कष्टोंका कारण होती हुई दोनोंके उन्नति पथमें बाधा उपस्थित करदेती है। हाँ, सुधार होता है प्रेम, उपकार और सद्व्यवहार से।

यदि चारुदत्त के कुटुम्बीजन, अपने इन गुणों और उदार परिणति के कारण, वसंतसेनाको चारुदत्तके पीछे अपने यहाँ आश्रय न देते बल्कि यह कहकर दुरकार देते कि 'इस पापिनी ने हमारे चारुदत्तका सर्वनाश किया है, इसकी सूरत भी नहीं देखनी चाहिये और न इसे अपने द्वारपर खड़ेही होने देना चाहिये', तो बहुत संभव है कि वह निराश्रित दशामें अपनी माताके ही पास जाती और वेश्यावृत्ति के लिये मजबूर होती और तब उसका वह सुन्दर श्राविका का जीवन न बन पाता जो उन लोगोंके प्रेमपूर्वक आश्रय देने और सद्व्यवहारसे बन सका है । इसलिये सुधारके अर्थ प्रेम, उपकार और सद्व्यवहार को अपनाना चाहिये, उसकी नितान्त आवश्यकता है। पापीसे पापीका भी सुधार हो सकता है परन्तु सुधारक होना चाहिये । ऐसा कोई भी पुरुष नहीं है जो स्वभावसे ही 'अयोग्य' हो परन्तु उसे योग्यताकी ओर लगाने वाला अथवा उसकी योग्यता से काम लेने वाला 'योजक' होना चाहिये—उसीका मिलना कठिन है । इसीसे नीतिकारोंने कहा है—

"अयोग्यः पुरुषोनास्ति योजकस्तत्र दुर्लभः ।"

जो जाति अपने किसी अपराधी व्यक्तिको जातिसे खारिज करती है और इस तरह पर उसके व्यक्तित्व के प्रति भारी घृणा और तिरस्कारके भावको प्रदर्शित करती है, समझना चाहिये, वह स्वयं उसका सुधार करने के लिये असमर्थ है, अयोग्य है, और उसमें योजक-शक्ति नहीं है । साथ ही, इस कृतिके द्वारा वह सर्वसाधारण में अपनी उस अयोग्यता और अशक्तिकी घोषणा कर रही है, इतना ही नहीं बल्कि अपनी स्वार्थसाधुताको भी प्रकट कर रही है । ऐसी अयोग्य और असमर्थ जातिका, जो अपनेको थाम भी नहीं

सकती, क्रमशः पतन होना कुछभी अस्वाभिवक नहीं है। पापी का सुधार वही कर सकता है जो पापीके व्यक्तित्व से घृणा नहीं करता बल्कि पापसे घृणा करता है। पापीसे घृणा करने वाला पापीके पास नहीं फटकता, वह सदैव उससे दूर रहता है और उन दोनोंके बीचमें मीलोंकी गहरी खाई पड़ जाती है; इससे वह पापीका कभी कुछ सुधार या उपकार नहीं कर सकता। प्रत्युत इसके, जो पापसे घृणा करता है वह सद्वैद्य की तरह हमेशा पापी (रोगी) के निकट होता है, और बराबर उसके पापरोगको दूर करनेका यत्न करता रहता है। यही दोनों में भारी अन्तर है। आजकल अधिकांश जन पापसे तो घृणा नहीं करते परन्तु पापीसे घृणा का भाव ज़रूर दिखलाते हैं अथवा घृणा करते हैं। इसीसे संसारमें पापकी उत्तरोत्तर वृद्धि होरही है और उसकी शांति होनेमें नहीं आती। बहुधा जाति बिरादरियों अथवा पंचायतों की प्रायः ऐसी नीति पाई जाती है कि वे अपने जाति भाइयों को पापकर्मसे तो नहीं रोकतीं और न उनके मार्गमें कोई अर्गला ही उपस्थित करती हैं बल्कि यह कहती हैं कि 'तुम सिंगिल (एकहरा) पाप मत करो बल्कि डबल (दोहरा) पाप करो—डबल पाप करनेसे तुम्हें कोई दण्ड नहीं मिलेगा परन्तु सिंगिल पाप करने पर तुम जातिसे खारिज कर दिये जाओगे। अर्थात्, वे अपने व्यवहारसे उन्हें यह शिक्षा देरही हैं कि 'तुम चाहे जितना बड़ा पाप करो, हम तुम्हें पाप करने से नहीं रोकतीं परन्तु पाप करके यह कहो कि हमने नहीं किया- पापको छिपकर करो और उसे छिपाने के लिये जितना भी मायाचार तथा असत्य भाषणादि दूसरा पाप करना पड़े उसकी तुम्हें छुट्टी है—तुम खुशीसे व्यभिचार कर सकते हो परन्तु वह स्थूल रूपमें किसी पर जाहिर न हो, भलेही इस कामके लिये रोटी बनानेवालीके रूपमें किसी स्त्रीको

रखलो परन्तु उसके साथ विवाह मत करो; और यदि तुम्हारे फ़ेल (कर्म) से किसी विधवाको गर्भ रहजाय तो खुशीसे उसकी भ्रूणहत्या कर डालो अथवा बालकको प्रसव कराकर उसे कहीं जंगल आदिमें डाल आओ या मारडालो परन्तु खुले रूपमें जाति-बिरादरीके सामने यह बात न आने दो कि तुमने उस विधवा के साथ सम्बंध किया है, इसीमें तुम्हारी खैर है—मुक्ति है—और नहीं तो जातिसे खारिज कर दिये जाओगे।' जाति-बिरादरियों अथवा पंचायतों की ऐसी नीति और व्यवहारके कारण ही आजकल भारत वर्षका और उसमें भी उच्च कहलाने वाली जातियोंका बहुतही ज़्यादा नैतिक पतन होरहा है। ऐसी हालत में पापियोंका सुधार और पतितोंका उद्धार कौन करे, यह एक बड़ी ही कठिन समस्या उपस्थित है!!

एक बात और भी नोट किये जाने के योग्य है और वह यह कि यदि कोई मनुष्य पाप कर्म करके पतित होता है तो उसके लिये इस बातकी खास ज़रूरत रहती है कि वह अपने पापका प्रायश्चित करने के लिये अधिक धर्म करे, उसे ज़्यादा धर्मकी ओर लगाया जाय और अधिक धर्म करने का मौका दिया जाय परन्तु आजकल कुछ जैन जातियों और जैन पंचायतोंकी ऐसी उलटी रीति पाई जाती है कि वे ऐसे लोगोंको धर्म करने से रोकती हैं—उन्हें जिनमंदिरोंमें जाने नहीं देतीं अथवा वीतराग भगवानकी पूजा प्रक्षाल नहीं करने देतीं और और भी कितनी ही आपत्तियाँ उनके धार्मिक अधिकारों पर खड़ी करदेती हैं। समझमें नहीं आता यह कैसी पापोंसे घृणा और धर्मसे प्रीति अथवा पतितोंके उद्धारकी इच्छा है!! और किसी बिरादरी या पचायतको किसीके धार्मिक अधिकारोंमें हस्तक्षेप करने का क्या अधिकार है!!

जैनियोंमें 'अविरत सम्यग्दृष्टि' का भी एक दर्जा (चतुर्थ

गुणस्थान) है, और अविरतसम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं जो इंद्रियोंके विषयों तथा त्रसस्थावर जीवों की हिंसासे विरक्त नहीं होता—अथवा यों कहिये कि इन्द्रियसंयम और प्राण-संयम नामक दोनों संयमों में से किसी भी संयमका धारक नहीं होता—परन्तु जिनेंद्र भगवानके वचनोंमें श्रद्धा ज़रूर रखता है*। ऐसे लोग भी जब जैन होते हैं और सिद्धान्ततः जैन मंदिरों में जाने तथा जिनपूजनादि करने के अधिकारी हैं+ तब एक श्रावकसे, जो जैनधर्मका श्रद्धानी है, चारित्र मोहिनी कर्मके तीव्र उदयवश यदि कोई अपराध बन जाता है तो उसकी हालत अविरत सम्यग्दृष्टिसे और ज़्यादा क्या खराब होजाती है, जिसके कारण उसे मंदिरमें जाने आदिसे रोका जाता है। जान पड़ता है इस प्रकारके दंडविधान केवल नासमझी और पारस्परिक कषाय भावोंसे सम्बंध रखते हैं। अन्यथा, जैनधर्ममें तो सम्यग्दर्शनसे युक्त (सम्यग्दृष्टि) चांडाल-पुत्रको भी 'देव' कहा है—आराध्य बतलाया है—और उसकी दशा उस अंगारके सदृश प्रतिपादन की है जो बाह्यमें भस्मसे आच्छादित होनेपर भी अन्तरंगमें तेज तथा प्रकाश को लिये हुए है और इसलिये कदापि उपेक्षणीय नहीं होता†। इसीसे

---

*यथा—णो इंदयेसुविरदो णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्तं सम्माइट्ठी अविरदोसो ॥२९
गोम्मटसार।

+जिन पूजाके कौन कौन अधिकारी हैं, इसका विस्तृत और प्रामाणिक कथन लेखककी लिखी हुई 'जिनपूजाधिकार मीमांसा' से जानना चाहिये।

†यथा—सम्यग्दर्शनसम्पन्नमपि मातंगदेहजम्।
देवा देवं विदुर्भस्म गूढाङ्गारान्तरौजसम्॥
—इति रत्नकरण्डके स्वामिसमंतभद्रः।

बहुत प्राचीन समयमें, जबकि जैनियों का हृदय सच्ची धर्म-भावनासे प्रेरित होकर उदार था और जैनधर्मकी उदार (अनेकान्तात्मक) छत्रछायाके नीचे सभी लोग एकत्र होते थे, मातंग (चाण्डाल) भी जैनमंदिरोंमें आया करते थे और भगवान का दर्शन-पूजन करके अपना जन्म सफल किया करते थे। इस विषय का एक अच्छा उल्लेख श्रीजिनसेनाचार्य के हरिवंशपुराणमें पाया जाता है और वह इस प्रकार है:—

सस्त्रीकाः खेचरा याताः सिद्धकूटजिनालयम्।
एकदा वंदितुं सोपि शौरिर्मदनवेगया ॥ २ ॥
कृत्वा जिनमहं खेटाः प्रवन्द्य प्रतिमागृहम्।
तस्थुः स्तंभानुपाश्रित्य बहुवेषा यथायथम् ॥ ३ ॥
विद्युद्वेगोपि गौरीणां विद्यानां स्तंभमाश्रितः।
कृतपूजास्थितः श्रीमान्स्वनिकायपरिष्कृतः ॥ ४ ॥
पृष्टया वसुदेवेन ततो मदनवेगया।
विद्याधरनिकायास्ते यथास्वमिति कीर्तिताः ॥ ५ ॥

* * * *

अमी विद्याधरा ह्यार्याः समासेन समीरिताः।
मातंगानामपि स्वामिन्निकायान् शृणु वच्मि ते ॥ १४ ॥
नीलांबुदचयश्यामा नीलांबरवरस्रजः।
अमी मातंगनामानो मातंगस्तंभसंगताः ॥ १५ ॥
श्मशानास्थिकृतोत्तंसा भस्मरेणुविधूसराः।
श्मशाननिलयास्त्वेते श्मशानस्तंभमाश्रिताः ॥ १६ ॥
नीलवैडूर्यवर्णानि धारयंत्यंबराणि ये।

पाण्डुरस्तंभमेत्यामी स्थिताः पाण्डुकखेचराः ॥ १७ ॥
कृष्णाजिनधरास्त्वेते कृष्णचर्माम्बरस्रजः ।
कानीलस्तंभमध्येत्य स्थिताः कालश्वपाकिनः ॥ १८ ॥
पिंगलैर्मूर्ध्नजैर्युक्तास्तप्तकांचनभूषणाः ।
श्वपाकीनां च विद्यानां श्रितास्तंभं श्वपाकिनः॥ १९ ॥
पत्रपर्णांशुकच्छन्न-विचित्रमुकुटस्रजः ।
पार्वतेया इति ख्याता पार्वतंस्तंभमाश्रिताः ॥ २० ॥
वंशीपत्रकृतोत्तंसाः सर्वर्तुकुसुमस्रजः ।
वंशस्तंभाश्रिताश्चैते खेटा वंशालया मताः ॥ २१ ॥
महाभुजगशोभांकसंदष्टवरभूषणाः ।
वृक्षमूलमहास्तंभमाश्रिता वार्क्षमूलकाः॥ २२ ॥
स्ववेषकृतसंचाराः स्वचिह्नकृतभूषणाः ।
समासेन समाख्याता निकायाः खचरोद्गताः ॥ २३ ॥
इति भार्योपदेशेन ज्ञातविद्याधरान्तरः ।
शौरिर्यातो निजं स्थानं खेचराश्च यथायथम्" ॥ २४ ॥

—२६ वाँ सर्ग।

इन पद्योंका अनुवाद पं० गजाधरलालजी ने, अपने भाषा *हरिवंश पुराणमें, निम्न प्रकार दिया है :—

"एकदिन समस्त विद्याधर अपनी अपनी स्त्रियोंके साथ सिद्धकूट चैत्यालयकी वंदनार्थ गये। कुमार। (वसुदेव) भी

---

* देखो इस हरिवंशपुराण का सन् १९१६ का छपा हुआ संस्करण, पृष्ठ २८४, २८५।

प्रियतमा मदनवेगाके साथ चलदिये ॥१॥ सिद्ध कूटपर आकर चित्र विचित्र वेषोंके धारण करने वाले विद्याधरोंने सानंद भगवानकी पूजा की चैत्यालय को नमस्कार किया एवं अपने अपने स्तंभोंका सहारा ले जुदे २ स्थानों पर बैठ गये ॥ ३ ॥ कुमार के श्वसुर विद्युद्वेगने भी अपनी जातिके गौरिक निकाय के विद्याधरोंके साथ भले प्रकार भगवानकी पूजाकी और अपनी गौरी-विद्याओं के स्तंभका सहारा ले बैठगये ॥ ४ ॥ कुमारको विद्याधरोंकी जातिके जानने की उत्कंठा हुई इसलिये उन्होंने उनके विषयमें प्रियतमा मदनवेगासे पूछा और मदनवेगा यथा-योग्य विद्याधरोंकी जातियोंका इसप्रकार वर्णन करने लगी—"

* * * *

"प्रभो ! ये जितने विद्याधर हैं वे सब आर्य जातिके विद्याधर हैं अब मैं मातंग [अनार्य] जातिके विद्याधरोंको बतलाती हूँ आप ध्यान पूर्वक सुनें—"

"नील मेघके समान श्याम नीली माला धारण किये मातंग स्तंभके सहारे बैठे हुये ये मातंग जातिके विद्याधर हैं ॥१४-१५॥ मुर्दोंकी हड्डियोंके भूषणोंसे भूषित भस्म (राख) की रेणुओंसे भद मैले और श्मशान [स्तंभ] के सहारे बैठे हुये ये श्मशान जातिके विद्याधर हैं ॥ १६ ॥ वैडूर्यमणिके समान नीले नीले वस्त्रों को धारण किये पाँडुर स्तंभके सहारे बैठे हुये ये पांडुक जातिके विद्याधर हैं ॥ १७ ॥ काले काले मृगचर्मों का आढे काले चमड़े के वस्त्र और मालाओं का धारे कालस्तंभका आश्रय ले बैठे हुये ये कालश्वपाकी जातिके विद्याधर हैं ॥१८॥ पीले वर्णके केशोंसे भूषित, तप्त सुवर्ण के भूषणोंके धारक श्वपाक विद्याओंके स्तंभके सहारे बैठने वाले ये श्वपाक जातिके विद्याधर हैं ॥ १९ ॥ वृक्षोंके पत्तोंके समान हरे वस्त्रोंके धारण करनेवाले, भाँति भाँतिके मुकुट और मालाओंके धारक, पर्वत-

स्तंभका सहारा लेकर बैठे हुये ये पार्वतेय जातिके विद्याधर हैं ॥ २० ॥ जिनके भूषण बाँसके पत्तोंके बने हुये हैं जो सब ऋतुओंके फूलोंकी माला पहिने हुये हैं और वंशस्तंभके सहारे बैठे हुये हैं वे वंशालय जातिके विद्याधर हैं ॥ २१ ॥ महासर्पके चिह्नोंसे युक्त उत्तमोत्तम भूषणोंको धारण करने वाले वृक्षमूल नामक विशाल स्तंभके सहारे बैठे हुये ये वार्क्षमूलक जातिके विद्याधर हैं ॥ २२ ॥ इस प्रकार रमणी मदनवेगा द्वारा अपने अपने वेष और चिह्न युक्त भूषणोंसे विद्याधरोंका भेद जान कुमार अति प्रसन्न हुये और उसके साथ अपने स्थान वापिस चले आये एवं अन्य विद्याधर भी अपने अपने स्थान चले गये ॥ २३-२४ ॥"

इस उल्लेख परसे इतनाही स्पष्ट मालूम नहीं होता कि मातंग जातियोंके चाण्डाल लोग भी जैनमंदिरमें जाते और पूजन करते थे बल्कि यहभी मालूम होता है कि *श्मशानभूमि की हड्डियोंके आभूषण पहिने हुए, वहाँ की राख बदनसे मले हुए, तथा मृगछाला ओढे, चमड़ेके वस्त्र पहिने और चमड़ेकी मालाएं हाथमें लिये हुए भी जैनमंदिरमें जासकते थे, और न केवल जाही सकते थे बल्कि अपनी शक्ति और भक्तिके अनुसार पूजा करने के बाद उनके वहाँ बैठनेके लिए स्थान भी नियत था, जिससे उनका जैनमंदिरमें जानेका और भी ज़्यादा नियत अधिकार पाया जाता है† । जान पड़ता है उस समय 'सिद्ध-

*यहाँ इस उल्लेख परसे किसीको यह समझने की भूल न करनी चाहिये कि लेखक आजकल ऐसे अपवित्र वेषमें जैन मंदिरोंमें आने की प्रवृत्ति चलाना चाहता है ।

†श्री जिनसेनाचार्य ने, ९ वीं शताब्दी के वातावरणके अनुसार भी, ऐसे लोगों का जैनमंदिर में जाना आदि आपत्तिके

कूट जिनालय' में प्रतिमागृहके सामने एक बहुत बड़ा विशाल मंडप होगा और उसमें स्तंभोंके विभागसे सभी आर्य अनार्य जातियोंके लोगोंके बैठनेके लिये जुदाजुदा स्थान नियतकर रक्खे होंगे। आजकल जैनियोंमें उक्त सिद्धकूट जिनालय के ढंगका—उसकी नीतिका अनुसरण करनेवाला—एकभी जैनमंदिर नहीं है ×। लोगोंने बहुधा जैनमंदिरोंको देवसम्पत्ति न समझकर अपनी घरू सम्पत्ति समझ रक्खा है, उन्हें अपनी ही चहलपहल तथा आमोद-प्रमोदादिके एक प्रकारके साधन बना रक्खा है, वे प्रायः उन महौदार्य-सम्पन्न लोकपिता वीतराग भगवानके मंदिर नहीं जान पड़ते जिनके समवसरणमें पशुतक भी जाकर बैठतेथे, और न वहाँ, मूर्तिको छोड़कर, उन पूज्य पिताकेवैराग्य, औदार्य तथा साम्यभावादि गुणोंका कहीं कोई आदर्श ही नज़र आता है। इसीसे वे लोग उनमें चाहे जिस जैनीको आने देते हैं और चाहे जिसको नहीं। कई ऐसे जैनमंदिर भी देखने में आए हैं जिनमें ऊनी वस्त्र पहिने हुए जैनियोंको भी घुसने नहीं दिया जाता। इस अनुदारता और कृत्रिम धर्मभावनाका भी कहीं कुछ ठिकाना है! ऐसे सब लोगोंको खूब याद रखना

योग्य नहीं ठहराया और न उससे मंदिरके अपवित्र होजानेको ही सूचितकिया। इससे क्या यह नसमझ लिया जाय कि उन्होंने ऐसी प्रवृत्तिका अभिनंदन किया है अथवा उसे बुरा नहीं समझा?

× चाँदनपुर महावीरजीके मंदिरमें तो वर्ष भरमें दो एक दिनके लिये यह हवा आ जाती है कि सभी ऊँच नीच जातियों के लोग बिना किसी रुकावटके अपने प्राकृत वेषमें—जूते पहने और चमड़े के ढोल आदि चीजें लिये हुए—वहाँ चले जाते हैं। और अपनी भक्तिके अनुसार दर्शन पूजन तथा परिक्रमण करके वापिस आते हैं।

चाहिये कि दूसरोंके धर्म-साधन में विघ्न करना—बाधक होना—,उनका मंदिर जाना बंद करके उन्हें देवदर्शन आदिसे विमुख रखना, और इस तरह पर उनको आत्मोन्नतिके कार्यमें रुकावट डालना बहुत बड़ा भारी पाप है। अंजना सुंदरीने अपने पूर्वजन्ममें थोड़े ही कालके लिये, जिनप्रतिमाको छिपाकर, अपनी सौतन के दर्शनपूजनमें अन्तराय डाला था। जिसका परिणाम यहाँ तक कटुक हुआ कि उसको अपने इस जन्ममें २२ वर्ष तक पतिका दुःसह वियोग सहना पड़ा और अनेक संकट तथा आपदाओंका सामना करना पड़ा, जिनका पूर्ण विवरण श्रीरविषेणाचार्यकृत 'पद्मपुराण' के देखने से मालूम हो सकता है। श्रीकुन्दकुन्दाचार्यने, अपने ' रयणसार ' ग्रन्थ में यह स्पष्ट बतलाया है कि-'दूसरोंके पूजन और दानकार्यमें अन्तराय (विघ्न) करने से जन्मजन्मान्तरमें क्षय, कुष्ठ, शूल, रक्तविकार, भगंदर, जलोदर, नेत्रपीड़ा, शिरोवेदना आदिक रोग तथा शीत उष्ण (सरदी गरमी) के आताप और (कुयोनियोंमें) परिभ्रमण आदि अनेक दुःखोंकी प्राप्ति होती है।' यथा—

खयकुट्ठसूलमूलो लोयभगंदरजलोदरक्खिसिरो-
सीदुण्हवहराई पूजादाणंतरायकम्मफलं ॥ ३३ ॥

इस लिये जो कोई जाति-बिरादरी अथवा पंचायत किसी जैनीको जैनमंदिरमें न जाने अथवा जिनपूजादि धर्मकार्योंसे वंचित रखने का दण्ड देती है वह अपने अधिकार का अतिक्रमण और उल्लंघन ही नहीं करती बल्कि घोर पापका अनुष्ठान करके स्वयं अपराधिनी बनती है। ऐसी जाति-बिरादरियोंके पंचोंकी निरंकुशता के विरुद्ध आवाज उठने की ज़रूरत है और उसका वातावरण ऐसेही लेखोंके द्वारा पैदा किया जा सकता है। आजकल जैन पंचायतोंने 'जाति-बहिष्कार' नामके तीक्ष्ण

हथियार को जो एक खिलौने की तरह अपने हाथमें ले रक्खा है और, विना उसका प्रयोग जाने तथा अपने बलादिक और देशकालकी स्थिति को समझे, जहाँ तहाँ यद्वा तद्वा रूपमें उसका व्यवहार किया जाता है वह धर्म और समाजके लिये बड़ा ही भयंकर तथा हानिकारक है। इस विषयमें श्रीसोमदेवसूरि अपने * 'यशस्तिलक' ग्रन्थ में लिखते हैं:—

नवैः संदिग्धनिर्वाहै विंदध्याद्गणवर्धनम्।
एकदोषकृते त्याज्यः प्राप्ततत्वः कथं नरः॥
यतः समयकार्यार्थो नानापंचजनाश्रयः।
अतः संबोध्य यो यत्र योग्यस्तं तत्र योजयेत्॥
उपेक्षायां तु जायेत तत्वाद्दूरतरो नरः।
ततस्तस्य भवो दीर्घः समयोऽपि च हीयते॥

इन पद्यों का आशय इस प्रकार है:—

'ऐसे ऐसे नवीन मनुष्यों से अपनी जाति की समूह-वृद्धि करनी चाहिये जो संदिग्धनिर्वाह हैं—अर्थात्, जिनके विषय में यह संदेह है कि वे जाति के आचार-विचार का यथेष्ट पालन कर सकेंगे। (और जब यह बात है तब) किसी एक दोष के कारण कोई विद्वान् जाति से बहिष्कार के योग्य कैसे हो सकता है? चूंकि सिद्धान्ताचार-विषयक धर्म कार्यों का प्रयोजन नाना पंचजनों के आश्रित है—उन के सहयोग से सिद्ध होता है—अतः समझाकर जो जिस कामके योग्य हो उसको उसमें लगाना चाहिये—जातिसे पृथक् न करना चाहिये। यदि किसी दोषके कारण एक व्यक्तिकी—खासकर विद्वान्की—

* यह ग्रंथ शक सं० ८८१ (वि० सं० १०१६) में बनकर समाप्त हुआ।

उपेक्षा की जाती है—उसे जाति में रखने की पर्वाह न करके जाति से पृथक् किया जाता है—तो उस उपेक्षा से वह मनुष्य तत्व से बहुत दूर जा पड़ता है। तत्व से दूर जा पड़नेके कारण उसका संसार बढ़ जाता है और धर्म की भी क्षति होती है—अर्थात्, समाजके साथ साथ धर्म को भी भारी हानि उठानी पड़ती है, उस का यथेष्ट प्रचार और पालन नहीं हो पाता।'

आचार्यमहोदय ने अपने वाक्यों द्वारा जैन जातियों और पंचायतों को जो गहरा परामर्श दिया है और जो दूर की बात सुझाई है वह सभीके ध्यान देने और मनन करनेके योग्य है। जब जब इस प्रकार के सदुपदेशों और सत्परामर्शों पर ध्यान दिया गया है तब तब जैन समाजका उत्थान होकर उसकी हालत कुछ से कुछ होती रही है—इसमें अच्छे अच्छे राजा भी हुए, मुनि भी हुए और जैनियों ने अपनी लौकिक तथा पारलौकिक उन्नति में यथेष्ट प्रगति की,—परन्तु जब से उन उपदेशों तथा परामर्शों की उपेक्षा की गई तभी से जैन समाज का पतन हो रहा है और आज उसकी इतनी पतितावस्था हो गई है कि उसके अभ्युदय और समृद्धि की प्रायः सभी बातें स्वप्न जैसी मालूम होती हैं, और यदि कुछ पुरातत्वज्ञों अथवा ऐतिहासिक विद्वानों द्वारा थोड़ासा प्रकाश न डाला जाता तो उन पर एकाएक विश्वास भी होना कठिन था। ऐसी हालत में, अब जरूरत है कि जैनियों की प्रत्येक जाति में ऐसे वीर पुरुष पैदा हों अथवा खड़े हों जो बड़े ही प्रेम के साथ युक्तिपूर्वक जातिके पंचों तथा मुखियाओं को उनके कर्तव्य का ज्ञान कराएँ और उनकी समाज-हित-विरोधनी निरंकुश प्रवृत्ति को नियंत्रित करने के लिये जी जान से प्रयत्न करें। ऐसा होने पर ही समाज का पतन रुक सकेगा और उस

में फिर से वही स्वास्थ्यप्रद जीवनदाता और समृद्धिकारक पवन बह सकेगा जिसका बहना अब बंद हो रहा है और उस के कारण समाज का सांस घुट रहा है।

समाज के दंड-विधान और उसके परिणाम-विषयक इन्हीं सब बातोंको थोड़े से सूत्र वाक्यों द्वारा सुझाने अथवा उनका संकेतमात्र करने के उद्देश्य से ही यह चारुदत्त वाला लेख लिखा गया था।

समालोचकजीको यदि इन सब बातोंका कुछ भी ध्यान होता तो वे ऐसे सदुद्देश्य से लिखे हुए इस लेखके विरोधमें ज़राभी लेखनी न उठाते। आशा है लेखोद्देश्य के इस स्पष्टी-करणसे उनका बहुत कुछ समाधान होजायगा और उनके द्वारा सर्वसाधारणमें जो भ्रम फैलाया गया है वह दूर हो सकेगा।

वेश्याओं से विवाह।

पुस्तक के आशय-उद्देश्यका विवेचन और स्पष्टीकरण करने आदि के बाद अब मैं उदाहरणोंकी उन बातों पर विचार करता हूँ जिन पर समालोचना में आक्षेप किया गया है, और सबसे पहले इस चारुदत्त वाले उदाहरणको ही लेता हूँ। यही पहले लिखा भी गया था, जैसा कि शुरू में ज़ाहिर किया जा चुका है। समालोचकजी ने जो इसे वसुदेव जी वाले उदाहरण के बाद लिखा बतलाया है वह उनकी भूल है।

इस उदाहरण में सिर्फ दो बातों पर आपत्ति की गई है एकतो वसंतसेना वेश्याको अपनी स्त्री रूप से स्वीकृत करने अथवा खुल्लमखुल्ला घर में डाल लेने पर, और दूसरी इस बात पर कि चारुदत्त के साथ कोई घृणा का व्यवहार नहीं किया गया। इनमें से दूसरी बात पर जो आपत्ति की

कई है वह तो कोई ख़ास महत्व नहीं रखती। उसका तात्पर्य सिर्फ इतना ही है कि 'सप्तव्यसनों में वेश्या-सेवन भी एक व्यसन है, इस व्यसनको सेवन करने वाले बहुत से मनुष्य होगये हैं परंतु उनमें चारुदत्तका नाम ही जो ख़ास तौर से प्रसिद्ध चला आता है वह इस बातको सूचित करताहै कि इस-व्यसन के सेवन में चारुदत्त का नाम जैसा बदनाम हुआ है वैसा दूसरे का नहीं। नाम की यह बदनामी ही चारुदत्तके प्रति घृणा और तिरस्कार है, इस लिये उस समयके लोग भी ज़रूर उसकेप्रति घृणा और तिरस्कार किये बिना न रहे होंगे।' इस प्रकारके अनुमान को प्रस्तुत करनेके सिवाय, समालोचक जी ने दूसरा कोई भी प्रमाण किसी ग्रन्थ से ऐसा पेश नहीं किया जिससे यह मालूम होता कि उसवक्त की जाति-बिरादरी अथवा जनताने चारुदत्तके व्यक्तित्वके प्रति घृणा और तिरस्कार का अमुक व्यवहार किया है। और अनुमान जो आपने बाँधाहै वह समुचित नहींहै। क्योंकि एक वेश्याव्यसनीके रूपमें चारुदत्त का जो कथानक प्रसिद्ध है वह, एक रोगीमें व्यक्त होनेवाले रोगके परिणामोंको प्रदर्शित करने की तरह, चारुदत्तके उस दोषका फल प्रदर्शन अथवा उससे होनेवाली मुसीबतोंका उल्लेख मात्र है और उसे ज़्यादा से ज़्यादा उसके उस दोषकी निन्दा कह सकते हैं। परन्तु उससे चारुदत्तके व्यक्तित्व (शख़्सियत Personality) के प्रति घृणा या तिरस्कारका कोई भाव नहीं पाया जाता जिसका निषेध करना उदाहरणमें अभीष्ट था और न किसीके एक दोषकी निन्दासे उसके व्यक्तित्वके प्रति घृणा या तिरस्कारका होना लाज़िमी आताहै। दोषकी निंदा और बातहै और व्यक्तित्वके प्रति घृणा या तिरस्कार का होना दूसरी बात। श्रीजिनसेनाचार्य-विरचित हरिवंशपुराणादि किसी भी प्राचीन ग्रन्थमें ऐसा कोई उल्लेख नहीं मिलता जिससे

यह पाया जाता हो कि चारुदत्तके व्यक्तित्वके साथ उस वक्त जनताका व्यवहार तिरस्कारमय था। प्रत्युत इसके, यह मालूम होता है कि चारुदत्तका काका स्वयं वेश्याव्यसनी था, चारुदत्तकी माता सुभद्राने, चारुदत्तको स्त्री-संभोगसे विरक्त देखकर, इसी काकाके द्वारा वेश्याव्यसनमें लगायाथा* ; वेश्या के घर से निकाले जाने पर जब चारुदत्त अपने घर आया तो उसकी स्त्री ने व्यापार के लिये उसे अपने गहने दिये और वह मामाके साथ विदेश गया ; विदेशोंमें चारुदत्त अनेक देवों तथा विद्याधरों से पूजित, प्रशंसित और सम्मानित हुआ ; उसे प्रामाणिक और धार्मिक पुरुष समझ कर 'गंधर्वसेना' नामकी विद्याधर-कन्या उसके समर्थ भाइयों द्वारा विवाह करदेनेके लिये सौंपी गई और जिसे चारुदत्तने पुत्रीकी तरह रक्खा ; चारुदत्त के पीछे वसन्तसेना वेश्या उसकी माताके पास आ रही और माताकी सेवा सुश्रूषा करते हुए निःसंकोच भावसे उसके वहां रहने पर कहीं से भी कोई आपत्ति नहीं की गई ; चारुदत्तके विदेशसे वापिस आने पर मातादिक कुटुम्बीजन और चम्पापुरी नगरीके सभी लोग प्रसन्न हुए और उन्होंने चारुदत्त के साथ महती तथा अद्भुत प्रीति को धारण किया × ; चारुदत्तने उस वसंतसेना वेश्याको अंगीकार किया

---

*ब्रह्मनेमिदत्त ने भी आराधनाकथाकोश में लिखा है :—

तदा स्वपुत्रस्य मोहेन संगतिं गणिकादिभिः।
सुभद्रा कारयामास तल्योर्ल्लम्पटैर्जनैः॥

× ब्रह्मनेमिदत्तके कथाकोशमें चम्पापुरीके लोगों आदि की इस प्रीतिका उल्लेख निम्न प्रकार से पाया जाताहै :—

भानुः श्रेष्ठी सुभद्रा सा चारुदत्तागमे तदा।
अन्ये चम्पापुरीलोकाः प्रीतिं प्राप्ता महाद्भुताम्॥

थे उसी को एक पति मान कर उसके घर पर रहने लगी थी, 'किमिच्छक' दान देकर दीनों और अनाथों आदिको संतुष्ट किया, गंधर्वसेना की प्रतिज्ञानुसार उसका पति निश्चित करनेके लिये अनेक बार गंधर्वविद्याके जानकार विद्वानोंकी सभाएँ जुटाईं, प्रतिज्ञा पूरी होने पर वसुदेवके साथ उसका विवाह किया, और बराबर जैनधर्मका पालन करते हुए अन्त को जैनमुनि दीक्षा धारण की ×। इसके सिवाय, वसुदेवजीने चारुदत्तका वेश्याव्यसनादिसहित सारा पूर्व वृत्तांत सुनकर और उससे सन्तुष्ट होकर चारुदत्तकी प्रशंसा में निम्न वाक्य कहे—

चारुदत्तस्य चोत्साहं तुष्टस्तुष्टाव यादवः ॥१८१

अहोचेष्टितमार्यस्य महौदार्यसमन्वितम् ।
अहो पुण्यबलं गण्यमनन्यपुरुषोचितम् ॥१८२
न हि पौरुषमीदृक्षं विना दैवबलं तथा ।
ईदृक्षान् विभवान् शक्याः प्राप्तुं ससुरखेचराः ॥१८३॥

—हरिवंशपुराण ।

भाषामें पं० गजाधरलाल जी ने इन्हीं प्रशंसावाक्यों को निम्न प्रकार से अनुवादित किया है :—

"कुमार वसुदेवको परम आनंद हुआ उन्होंने चारुदत्तकी इस प्रकार प्रशंसा कर [की] कि—आप उत्तम पुरुष हैं, आपकी चेष्टा धन्य है उदारता भी लोकोत्तर है अन्य पुरुषों के लिये

× यथाः—चारुदत्तः सुधीश्चापि भुक्त्वा भोगान्स्वपुण्यतः ।
समाराध्यजिनेंद्रोक्तं धर्मं शर्माकरं चिरं ॥ ६२॥
ततो वैराग्यमासाद्य सुन्दराख्यसुताय च ।
दत्वा श्रेष्ठिपदं पूतं दीक्षां जैनेश्वरीं श्रितः ॥ ६३॥

—नेमिदत्त-कथाकोश ।

सर्वथा दुर्लभ यह आपका पुण्यबल भी अचिन्त्य है ॥१८१-१८२॥ बिना भाग्य के ऐसा पौरुष होना अति कठिन है ऐसे उत्तमोत्तम भोगों को मनुष्यों की तो कथा बात सामान्य देव विद्याधर भी प्राप्त नहीं कर सकते "।

और हरिवंशपुराण के २१वें सर्ग के अन्त में श्रीजिनसेनाचार्य ने चारुदत्तजीको भी वसुदेवकी तरह रूप और विज्ञान के सागर तथा धर्म अर्थ कामरूपी त्रिवर्ग के अनुभवी अथवा उसके अनुभवसे संतुष्टचित्त प्रकट कियाहै, और इस तरह पर दोनों को एक ही विशेषणों द्वारा उल्लेखित कियाहै यथाः—

इत्यन्योन्यस्वरूपज्ञा रूपविज्ञानसागराः।
त्रिवर्गानुभवप्रीताश्चारुदत्तादयः स्थिताः ॥१८५॥

इन सब बातों से यह स्पष्ट जाना जाता है कि चारुदत्त अपने कुटुम्बीजनों, पुरजनों और इतरजनों में से किसी के भी द्वारा उस वक्त तिरस्कृत नहीं थे और न कोई उनके व्यक्तित्व को घृणाकी दृष्टिसे देखता था। इसी से लेखक ने लिखा था कि "उस समय की जाति-बिरादरी ने चारुदत्त को जाति से च्युत अथवा बिरादरी से खारिज नहीं किया और न दूसरा ही उसके साथ कोई घृणाका व्यवहार किया गया।" परन्तु समालोचक जी अपने उक्त दूषित अनुमानके भरोसे पर इसे सफेद झूठ बतलाते हैं और इसलिये पाठक उक्त संपूर्ण कथन पर से उनके इस सफेद सत्य का स्वयं अनुमान कर सकते हैं और उसका मूल्य जाँच सकते हैं।

अब पहिली बात पर कीगई आपत्तिको लीजिये। समालोचक जी की यह आपत्ति बड़ी ही विचित्र मालूम होती है! आप यहाँ तक तो मानते हैं कि चारुदत्त का बसंतसेना वेश्या के साथ एक व्यसनी जैसा सम्बन्ध था, बसन्तसेना भी

चारुदत्त पर आसक्त थी और उसके प्रथम दर्शन दिवस से ही यह प्रतिज्ञा किए हुए थी कि इस जन्म में मैं दूसरे पुरुष से संभोग नहीं करूंगी; चारुदत्त उससे लड़भिड़ कर या नाराज़ होकर विदेश नहीं गया बल्कि वेश्या की माता ने धन के न रहने पर जब उसे अपने घर से निकाल दिया तो वह धन कमाने के लिये ही विदेश गया था; उसके विदेश जाने पर वसन्तसेना ने, अपनी माता के बहुत कुछ कहने सुनने पर भी, किसी दूसरे धनिक पुरुष से अपना सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं समझा और अपनी माता को यही उत्तर दिया कि चारुदत्त मेरा कुमारकालका पति है मैं उसे नहीं छोड़ सकती, उसे छोड़ कर दूसरे कुवेर के समान धनवान पुरुष से भी मेरा कोई मतलब नहीं है, और फिर अपनी माता के घर का ही परित्याग कर वह चारुदत्त के घर पर जा रही और उस की मातादिक की सेवा करती हुई चारुदत्तके आगमन की प्रतीक्षा करने लगी; साथ ही, उसने एक आर्यिका से श्रावकके व्रत लेकर इस बात की और भी रजिष्ट्री कर दी कि वह एक पतिव्रता है और भविष्य में वेश्यावृत्ति करना नहीं चाहती। इसके बाद चारुदत्त जी विदेश से विपुलधन-सम्पत्ति के साथ वापिस आए और वसन्तसेना के अपने घर पर रहने आदिका सब हाल मालूम करके उससे मिले और उन्होंने उसे बड़ी खुशी के साथ अपनाया—स्वीकार किया। परन्तु यह सब कुछ मानते हुए भी, आपका कहना है कि इस अपनाने या स्वीकार करनेका यह अर्थ नहीं है कि चारुदत्तने वसन्तसेनाको स्त्री रूपसे स्वीकृत कियाथा या घरमें डाल लियाथा बल्कि कुछ दूसरा ही अर्थ है, और उसे आपने निम्न दो वाक्यों द्वारा सूचित किया है—

(१) "चारुदत्तने उपकारी और व्रतधारण करनेवाली समझ कर ही वसन्तसेना को अपनाया था"

(२) "असल बात यह है कि वसन्तसेना सेवा सुश्रूषा करने के लिये आई थी, और चारुदत्त ने उसे इसी रूप में अपना लिया था।"

इन में पहले वाक्य से तो अपनाने का कोई विसदृश अर्थ स्पष्ट नहीं होता है। हाँ, दूसरे वाक्यसे इतना जरूर मालूम होता है कि आपने वसन्तसेना को खासे भिन्नसेवा सुश्रूषा करने वाली के रूपमें अपनाने का विधान किया है अथवा यह प्रतिपादन किया है कि चारुदत्त ने उसे एक खिद्मतगारनी या नौकरनी के तौर पर अपने यहां रक्खा था। परन्तु रोटी बनाने, पानी भरने, बर्तन मांजने, बुहारी देने, तैलादि मर्दन करने, नहलाने, बच्चों को खिलाने या पंखा झालने आदि किस सेवा सुश्रुषा के काम पर वह वेश्यापुत्री रक्खो गई थी, इस का आपने कहीं पर भी कोई उल्लेख नहीं किया और न कहीं पर यही प्रकट किया कि चारुदत्त, अमुक अवसर पर, अपनी उस चिरसंगिनी और चिरभुक्ता वेश्या से पुनः संभोग न करने या उससे काम सेवा न लेनेके लिये प्रतिज्ञाबद्ध होचुकेथे अथवा उन्होंने अपनी एक स्त्रीका ही व्रत ले लिया था। यही आपकी इस आपत्तिका सारा रहस्य है, और इसके समर्थनमें आपने जिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराणसे सिर्फ एक श्लोक उद्धृत किया है, जो आपके ही अर्थ के साथ इस प्रकार है:-

तासु[*शु]श्रूषाकरी[रीं] स्वस्रूः[श्वश्र्वाः]†आर्यातिव्रत संगता।
श्रुत्वा वसंतसेनां च प्रतिः[प्रीतः] स्वीकृतवानहम्॥"

*ब्रैकट में जो रूप दिये हैं वे समालोचक जी के दिये हुए उन अक्षरों के शुद्ध पाठ हैं जो उन से पहले पाये जाते हैं।
†इस की जगह "सद्णुव्रत संगताम्" ऐसा पाठ देहली के नये मंदिर की प्रति में पाया जाता है।

"अर्थ—‡वेश्या वसन्तसेना अपनी मांका घर परित्यागकर मेरे घर आगई थी । और उसने अर्जिकाके पास जा श्रावकके व्रत धारण कर मेरी माँ और स्त्रीकी पूर्ण सेवाकी थी इसलिये मैं उससे भी मिला, उसे सहर्ष अपनाया ।"

पं० दौलतरामजी ने अपने हरिवंशपुराणमें, इस श्लोककी भाषा टीका इस प्रकार दी है :—

"और वह कलिंगसेना वेश्याकी पुत्री वसंतसेना पतिव्रता मेरे विदेश गए पीछे अपनी माताका घर छोडि आर्यानिके निकट श्रावकव्रत अंगीकार करि मेरी मातानिके निकट आय रही। मेरी माताकी अर स्त्रीकी वानै अति सेवा करी। सो दोऊहीं वातै अतिप्रसन्न भई। अर जगतिमें बहुत वाका जस भया सो मैं हू अति प्रसन्न होय वाहि अंगीकार करता भया।"

यह श्लोक चारुदत्तजीने, वसुदेवजीको अपना पूर्व परिचय देते हुए, उस समय कहा है जबकि गंधर्वसेनाका विवाह हो चुका था और चारुदत्तको विदेशसे चम्पापुरी वापिस आए बहुतसे दिन बीत चुके थे—गंधर्व विद्याके जानकर विद्वानोंकी महीने दर महीने की कई सभाएं भी हो चुकी थीं।

इस संपूर्ण वस्तुस्थिति, कथनसम्बन्ध और प्रकरण परसे, यद्यपि, यही ध्वनि निकलती है और यही पाया जाता है कि चारुदत्तने वसन्तसेनाको अपनी स्त्री बना लिया था, और कोई

---

‡मूल श्लोकके शब्दों परसे उसका स्पष्ट और संगत अर्थ सिर्फ इतना ही होता है :—

'और वसंतसेनाके विषयमें सासकी (मेरी माताकी) सेवा करने तथा आर्यिकाके पाससे व्रत ग्रहण करने का हाल सुनकर मैंने प्रसन्नतापूर्वक उसे स्वीकार किया— अंगीकार किया।'

भी सहृदय विचारशील इस बातकी कल्पना नहीं कर सकता कि चारुदत्तने वसंतसेनाको, उससे काम सेवाका कोई काम न लेते हुए, केवल एक खिद्मतगारिनी या नौकरनीके तौर पर अपने पास रक्खा होगा—ऐसी कल्पना करना उस सद्विचार-सम्पन्नाके साथ न्याय न करके उसका अपमान करना है; फिर भी समालोचकजीकी ऐसीही विलक्षण कल्पना जान पड़ती है। इसीसे आप अपनीही बात पर जोर देते हैं और उसका आधार उक्त श्लोक का बतलाते हैं। परन्तु समझमें नहीं आता उक्त श्लोकमें ऐसी कौनसी बात है जिसका आप आधार लेते हों अथवा जिससे आपके अर्थका समर्थन हो सकता हो। किसी भी विरुद्ध कथनके साथमें न होतेहुए, एक स्त्रीको अंगीकार करने का अर्थ उसे स्त्री बनानेके सिवाय और क्याहो सकता है? क्या 'स्वीकृतवान्' पदसे पहले 'स्त्रीरूपेण' ऐसा कोई पद न होनेसे ही आप यह समझ बैठे हैं कि वसंतसेना की स्त्रीरूपसे स्वीकृति नहीं हुई थी या उसे स्त्रीरूपसे अंगीकार नहीं किया गया था? यदि ऐसा है तो इस समझपर सहस्र धन्यवाद हैं? जान पड़ता है अपनी इस समझके भरोसे परही आपने श्लोकमें पड़े हुए 'श्वश्रूवाः' पदका कोई खयाल नहीं किया और न 'स्वीकृति' या 'स्वीकार' शब्दके प्रकरणसंगत अर्थ पर ही ध्यान देनेका कुछ कष्ट उठाया!! श्लोकमें 'श्वश्रूवाः' पद इस बातको स्पष्ट बतला रहा है कि चारुदत्त ने वसुदेवसे बातें करते समय अपनी माताको वसन्तसेनाकी 'सास' रूपसे उल्लेखित किया था और इससे यह साफ़ जाहिर है कि वसुदेव के साथ वार्तालाप करने से पहले चारुदत्तका वसंतसेनाके साथ विवाह हो चुका था। स्वीकरण, स्वीकृति, और स्वीकार शब्दों का अर्थ भी विवाह होता है-इसीसे वामन शिवराम ऐप्टेने अपने कोश में इन शब्दोंका अर्थ Espousal, wedding तथा marriage

भी दिया है और इसी लिये उक्त श्लोकमें 'स्वीकृतवान' से पहले 'स्त्रीरूपेण' पदकी या इसी आशय को लिये हुए किसी दूसरे पदके देनेकी कोई जरूरत नहीं थी—उसका देना व्यर्थ होता। स्वयं श्रीजिनसेनाचार्यने अन्यत्र भी, अपने हरिवंशपुराण में, 'स्वीकृत' को 'विवाहित (ऊढ)' अर्थ में प्रयुक्त किया है, जिसका एक स्पष्ट उदाहरण इस प्रकार है :—

*यागकर्मणि निर्वृत्ते सा कन्या राजसूनुना ।
स्वीकृता तापसा भूपं भक्तं कन्यार्थमागताः॥३०॥
कौशिकायात्र तैस्तस्यां याचितायां नृपोऽवदत् ।
कन्या सोढा कुमारेण यातेत्युक्तास्तुते ययुः॥३१॥
—२६ वाँ सर्ग ।

ये दोनों पद्य उस यज्ञप्रकरण के हैं जिसमें राजा अमोघ-दर्शन ने रंगसेना वेश्याकी पुत्री 'कामपताका' वेश्या का नृत्यकराया था और जिसे देखकर कौशिक ऋषि भी क्षुभित हो गये थे। इन पद्यों में बतलाया है कि 'यज्ञकर्म के समाप्त होने पर उस (कामपताका) कन्या को राजपुत्र (चारुचंद्र) ने स्वीकार कर लिया। (इसके बाद) कुछ तापस लोग कन्या के लिये भक्त राजा के पास आए और उन्होंने 'कौशिक' के

*जिनदास ब्रह्मचारीके हरिवंशपुराण में भी 'स्वीकृत' को 'ऊढ' (विवाहित) अर्थ में प्रयुक्त किया है। यथा :—

ततः कदाचित्सा कन्या स्वीकृता राजसूनुना ।
तापसास्तेपिकन्यार्थं नृपपार्श्वं समागताः॥३०॥
प्रार्थितायां नृपोवादीत्तस्यां सोढा विधानतः।
कुमारेण ततो यूयं यात स्वस्थानमुत्सुकाः॥३१॥
—१०वां सर्ग ।

लिये उसकी याचना की। इस पर राजाके इस उत्तरको पाकर कि 'वह कन्या तो राजपुत्रने विवाह ली है' वे लोग चलेगये'।

इस उल्लेख परसे स्पष्ट है कि श्रीजिनसेनाचार्य ने पहले पद्यमें जिस बातके लिये 'स्वीकृता' पदका प्रयोग किया था उसी बातको अगले पद्यमें 'ऊढा' पदसे ज़ाहिर किया है, जिससे 'स्वीकृता' (स्वीकार कर ली) और 'ऊढा' (विवाह ली) दोनों पद एक ही अर्थके वाचक सिद्ध होते हैं। पं० दौलतरामजी ने 'स्वीकृता' का अर्थ 'अङ्गीकार करी' और 'ऊढा' का अर्थ 'वरी' दिया है। और समालोचकजीके श्रद्धास्पद पं० गजाधरलालजी ने, उक्तपद्योंका अर्थ देतेहुए, 'स्वीकृता'की तरह 'ऊढा'का अर्थ भी 'स्वीकार करली' किया है और इस तरह पर यह घोषित कियाहै कि ऊढा (विवाहिता) और 'स्वीकृता' दोनों एकार्थवाचक पद हैं।

ऐसी हालतमें यह बात बिलकुल निर्विवाद और निःसन्देह जान पड़ती है कि चारुदत्तने वसन्तसेना वेश्याके साथ विवाह किया था—उसे अपनी स्त्री बनाया था—और उसी बातका उल्लेख उनकी तरफसे उक्त श्लोकमें किया गया है। और इस लिये उक्त श्लोकमें प्रयुक्त हुए "स्वीकृतवान्" पदका स्पष्ट अर्थ "विवाहितवान्" समझना चाहिये।

खेद है कि, इतना स्पष्ट मामला होतेहुए भी, समालोचकजी, लेखकके व्यक्तित्वपर आक्षेप करते हुए, लिखतेहैं—

"चारुदत्तने वसन्तसेनाको घरमें नहीं डाल लिया था और न उसे स्त्री रूपसे स्वीकृत किया था, जैसाकि बाबू साहबने लिखा है। यह दोनों बातें शास्त्रोंमें नहीं हैं न जाने बाबू साहबने कहाँसे लिखदी हैं बाबू साहबकी यह पुरानी आदत है कि जिस बातसे अपना मतलब निकलता देखते हैं उसी बातको अपनी ओरसे मिलाकर झट लोगोंको धोखेमें डाल देते हैं।"

समालोचकजीके इस लिखनेका क्या मूल्य है, और इसके द्वारा लेखकपर उन्होंने कितना झूठा तथा नीच आक्षेप किया है, इसे पाठक अब स्वयं समझ सकते हैं। समझमें नहीं आता कि एक वेश्यासे विवाह करने या उसे स्त्री बना लेनेकी पुरानी बातको मान लेनेमें उन्हें क्यों संकोच हुआ और उसपर क्यों इतना पाखंड रचा गया? वेश्याओंसे विवाह करलेनेके तो और भी कितने ही उदाहरण जैनशास्त्रोंमें पाये जाते हैं, जिनमेंसे 'कामपताका' वेश्या का उदाहरण ऊपर दिया ही जा चुका है; और *'पुण्यास्रव' कथाकोशमें लिखा है कि 'पंचसुगंधिनी' वेश्याकी 'किन्नरी' और 'मनोहरी' नामकी दो पुत्रियाँ थी, जिनके साथ अर्थधरके पुत्र प्रतापंधर अपरनाम 'नागकुमार' ने, पिताकी आज्ञासे, विवाह किया था+। ये नागकुमार जिनपूजन किया करतेथे, उन्होंने अन्तको जिनदीक्षा ली और वे केवलज्ञानी होकर मोक्ष पधारे ×। उनकी इस कृतिसे—अर्थात, साक्षात्

*यह पुण्यास्रव कथाकोश केशवनन्दि मुनिके शिष्य रामचन्द्र मुमुक्षुका बनाया हुआ है। इसका भाषानुवाद पं० नाथूरामजी प्रेमीने किया है और वह सन१९०७ में प्रकाशितभी होचुका है।

+ यथा—"एकदा राजास्थानं पंचसुगंधिनीनामवेश्या समागत्य भूपं विज्ञापयतिस्म देव! मे सुते द्वे किन्नरी मनोहरी च वीणावाद्यमदगर्विते नागकुमारस्यादेशं देहि तयोर्वाद्य परीक्षितुं।......तत्रात्यासक्ते पितृवचनेन परिणीतवान् प्रतापंधरः सुखमास्त।"—इति पुण्यास्रवः।

× "...प्रतापंधरोमुनिश्चतुःषष्ठिवर्षाणि तपश्चकार कैलासे केवली जज्ञे।"—इति पुण्यास्रवः।

अर्थात्—प्रतापंधर (नागकुमार) ने मुनि होकर ६४ वर्ष तप किया और फिर कैलासपर्वत पर केवल ज्ञानको प्राप्त किया।

व्यभिचारजात वेश्या-पुत्रियोंको अपनी स्त्री बना लेनेसे—जैन-धर्मको कोई कलंक नहीं लगा, जिसके लगजानेकी समालोचक जीने समालोचनाके अन्तमें आशंका की है, वे बराबर जिनपूजा करते रहे और उससे उनकी जिनदीक्षा तथा आत्मोन्नतिको चरमसीमा तक पहुंचानेके कार्यमें भी कोई बाधा नहीं आसकी। इसलिये एक वेश्याको स्त्री बनालेना आजकलकी दृष्टिसे भलेही लोक-विरुद्धहो परन्तु वह जैनधर्मके सर्वथा विरुद्ध नहीं कहला सकता और न पहले ज़माने में सर्वथा लोकविरुद्ध ही समझा जाता था। आजकल भी बहुधा देशहितैषियोंकी यह धारणा पाई जाती है कि भारतकी सभी वेश्याएँ, वेश्यावृत्तिको छोड़ कर, यदि अपने अपने प्रधान प्रेमीके घर बैठजायँ—गृहस्थधर्म में दीक्षित होकर गृहस्थन बन जायँ अथवा ऐसा बननेकेलिये उन्हें मजबूर किया जासके—और इसतरह भारतसे वेश्यावृत्ति उठजाय तो इससे भारतका नैतिकपतन रुककर उसका बहुत कुछ कल्याण हो सकता है। वे वेश्यागमन या व्यसनकी अपेक्षा एक वेश्यासे, वेश्यावृत्ति छुड़ाकर, शादी करलेनेमें कम पाप समझते हैं। और, कामपिशाचके वशवर्ती होकर, वेश्याके द्वारपर पड़े रहने, ठोकरें खाने, अपमानित तथा पददलित होने और अनेक प्रकारकी शारीरिक तथा मानसिक यंत्रणाएँ सहते हुए अन्तको पतितावस्थामें ही मर जानेको घोरपाप तथा अधर्म मानते हैं। अस्तु।

कुटुम्ब में विवाह।

चारुदत्तके उदाहरणकी सभी आपत्तियोंका निरसन कर अब मैं दूसरे-वसुदेवजी वाले-उदाहरणकी आपत्तियोंको लेता हूं।

इस उदाहरण में सबसे बड़ी आपत्ति 'देवकीके' विवाह

पर की गई है। देवकी का वसुदेव के साथ विवाह हुआ, इस बात पर, यद्यपि, कोई आपत्ति नहीं है परन्तु 'देवकी रिश्ते में वसुदेव की भतीजी थी' यह कथन ही आपत्ति का खास विषय बनाया गया है और इसे लेकर खूब ही कोलाहल मचाया गया तथा ज़मीन आस्मान एक किया गया है। इस आपत्तिपर विचार करने से पहले, यहां प्रकृत आपत्ति विषयक कथनका कुछ थोड़ा सा पूर्व इतिहास दे देना उचित मालूम होता है और वह इस प्रकार है :—

(१) सन् १९१० में, लाहौर से पं० दौलतराम जी कृत भाषा हरिवंशपुराण प्रकाशित हुआ और उसकी विषय-सूची में देवकी और वसुदेवके पूर्वोत्तर सम्बन्धोंको निम्न प्रकार से घोषित किया गया :—

"वसुदेवका अपने बाबाके भाई राजा सुवीरकी(पड़)पोती कंसकी बहन देवकीसे विवाह हुआ।"

इस घोषणा के किसी भी अंश पर उस समय आपत्ति की कहीं से भी कोई आवाज़ नहीं सुन पड़ी।

(२) १७ फरवरी सन् १९१३ के जैन गजट में सरनऊ निवासी पं० रघुनाथदासजी ने, "शास्त्रानुकूल प्रवर्तना चाहिये" इस शीर्षक का एक लेख लिखा था और उस में कुछ रूढ़ियों पर अपने विचार भी प्रगट किये थे। इस पर लेखककी ओर से "शुभ चिह्न" नाम का एक लेख लिखा गया और वह २४ मार्च सन् १९१३ के 'जैनमित्र' में प्रकाशित हुआ, इस लेख में पंडित जी के उक्त 'शास्त्रानुकूल प्रवर्तना चाहिये' वाक्य का अभिनंदन करते हुए और समाज में रूढियों तथा रस्म रिवाजों का विवेचन प्रारम्भ होने की आवश्यकता जतलाते हुए, कुछ शास्त्रीय प्रमाण पंडित जी की भेट किये गये थे और उन पर निष्पक्षभाव से विचारने की प्रेरणा भी की गई थी। उन

प्रमाणों में चौथे नम्बर का प्रमाण इस प्रकार थाः—

"उक्त (जिनसेनाचार्यकृत) हरिवंशपुराण में यह भी लिखा है कि वसुदेव जी का विवाह देवकी से हुआ। देवकी राजा उग्रसेन की लड़की और महाराज सुवीर की पड़पोती (प्रपौत्री) थी और वसुदेव जी महाराजा सूर के पोते थे। सूर और सुवीर दोनों सगे भाई थे—अर्थात् श्रीनेमिनाथ के चचा वसुदेव जी ने अपने चचाज़ाद भाई की लड़की से विवाह किया। इससे प्रकट है कि उस समय विवाह में गोत्र का विचार वा बचाव नहीं किया जाता था; नहीं मालूम परवारों में आजकल आठ आठ वा चार चार साकें (शाखाएँ) किस आधार पर मिलाई जाती हैं।"

इस लेखके उत्तरमें पंडितजीने दूसरालेख, वही 'शुभचिन्ह' शीर्षक डालकर, १६ जून सन १६१३ के जैनगजट में प्रकाशित कराया, उसमें इस प्रमाणके किसीभी अंशपरकोई आपत्तिनहीं कीगई और न दो श्लोकोंके अर्थपर *आपत्तिकरने के सिवाय, दूसरेही किसी प्रमाणको अप्रमाण ठहराया गया। जैनमित्रके सम्पादक ब्र०शीतलप्रसादजीनेभी उक्त प्रमाण पर कोई आपत्ति नहींकी, हालाँकि उन्होंने लेखपर दो सं० नोट भी लगाये थे।

(३) इसके छह वर्षबाद, 'शिक्षाप्रदशास्त्रीय उदाहरण' नं० २ के नामसे वसुदेवजीके उदाहरणका यह प्रकृत लेख लिखा गया और अप्रेल सन १६१६ के 'सत्योदय' में प्रकाशित हुआ। उस वक्त इस लेखपर 'पद्मावतीपुरवाल' के सम्पादक पं० गजाधर-लालजी न्यायतीर्थ ने अपना विस्तृत विचार प्रकट किया था और उसमें इस बातको स्वीकार कियाथा कि देवकी उग्रसेनकी

---

*अर्थ-विषयक इस आपत्तिका उत्तर 'अर्थ-समर्थन' नामके लेखद्वारा दिया गया जो १७ सितम्बर सन १६१३ के जैनमित्र में प्रकाशित हुआ था।

पुत्री और वसुदेवकी भतीजी थी। उनका वह विचार लेख श्रावण मासके 'पद्मावतीपुरवाल' अंक नं० ५ में प्रकाशित हुआ था। इसके बाद सितम्बर सन १६२० के 'जैनहितैषी' में यही लेख प्रकाशित हुआ और वहाँ से चार वर्षके बाद अब इस पुस्तकमें उद्धृत किया गया है।

इस तरह पर देवकी और वसुदेवके सम्बंधका यह विषय इस पुस्तकमें कोई नया नहींहै बल्कि वह समाजके चार प्रसिद्ध पत्रों और एक ग्रन्थमें चर्चा जाकर बहुत पहलेसे समाजके विद्वानोंके सामने रक्खा जा चुका है और उसकी सत्यता पर इससे पहले कोई आपत्ति नहीं कीगई अथवा यों कहिये कि समाजके विद्वानोंने उसे आपत्तिके योग्य नहीं समझा। ऐसी हालतमें समालोचकजीका इस विषयको लेकर व्यर्थका कोलाहल मचाना और लेखकके व्यक्तित्व पर भी आक्रमण करना उनके अकाण्डताण्डव तथा अविचार को सूचित करता है। लेखकने देवकीके विवाहकी घटनाका उल्लेख करतेहुएलिखा था -

"देवकी राजा उग्रसेनकी पुत्री, नृपभोजकवृष्टिकी पौत्री और महाराज सुवीरकी प्रपौत्री थी। वसुदेव राजा अन्धकवृष्टिके पुत्र और नृप शूरके पौत्र थे। ये नृप 'शूर' और देवकीके प्रपितामह 'सुवीर' दोनों सगे भाई थे। दोनोंके पिताका नाम 'नरपति' और पितामह (बाबा) का नाम 'यदु' था। ऐसा श्रीजिनसेनाचार्यने अपने हरिवंशपुराणमें सूचित किया है और इससे यह प्रकट है कि राजा उग्रसेन और वसुदेवजी दोनों आपसमें चचाताऊज़ाद भाई लगते थे और इसलिये उग्रसेनकी लड़की 'देवकी' रिश्तेमें वसुदेवकी भतीजी (भ्रातृजा) हुई। इस देवकीसे वसुदेवका विवाह हुआ, जिससे स्पष्टहै कि इस विवाहमें

गोत्र तथा गोत्रकी शाखाओंका टालना तो दूररहा एक वंश और एक कुटुम्बका भी कुछ खयाल नहीं रक्खा गया।"

इस कथनसे स्पष्ट है कि इसमें देवकी और वसुदेवकी रिश्तेदारी का--उनके पूर्व सम्बंध का जो कुछ उल्लेख किया गया है वह सब श्रीजिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराण के आधार पर कियागया है। और इसलिये एक समालोचककी हैसियतसे समालोचकजीको इसपर यदि कोई आपत्ति करनीथी तो वह यातो जिनसेनाचार्यको लक्ष्यकरके करनी चाहिये थी--उनके कथनको मिथ्या ठहराना अथवा यह बतलाना चाहिये था कि वह अमुक अमुक जैनाचार्यों तथा विद्वानोंके कथनोंके विरुद्ध है--और या वह इस रूपमें ही होनी चाहिये थी कि लेखकका उक्त कथन जिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराणके विरुद्ध है, और ऐसी हालतमें जिनसेनाचार्यके उनविरोधीवाक्योंकोदिखलानाचाहिये था। परन्तु समालोचकजीने यह सब कुछ भी न करके उक्त कथनको "सफेद झूठ" लिखा है और उसे वैसा सिद्ध करनेके लिये जिनसेनाचार्य का एक भी वाक्य उनके हरिवंशपुराणसे उद्धृत नहीं किया यह बड़ी ही विचित्र बात है! हाँ, अन्य विद्वानोंके बनाये हुए पाँडवपुराण, नेमिपुराण, हरिवंशपुराण, उत्तरपुराण, और आराधनाकथाकोश नामक कुछ दूसरे ग्रन्थों के वाक्य जरूर उद्धृत किये हैं और उन्हींके आधारपर लेखक के कथनको मिथ्या सिद्ध करना चाहा है, यह समालोचनाकी दूसरी विचित्रता है! और इन दोनों विचित्रताओंमें समालोचकजी की इस आपत्तिका सारा रहस्य आजाता है। सहृदय पाठक इसपर से सहजहीमें इस बातका अनुभव कर सकते हैं कि समालोचकजी, इस आपत्तिको करते हुए, समालोचकके दायरेसे कितने बाहर निकल गये और उसके कर्तव्यसे कितने

नीचे गिर गये हैं। उन्हें इतनी भी समझ नहीं पड़ी कि लेखक अपने कथनको जिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराणके आधार पर स्थितकर रहा है और इसलिये उसके विपक्षमें दूसरे ग्रन्थोंके वाक्योंको उद्धृत करना व्यर्थ होगा, उनसे वह कथन मिथ्या नहीं ठहराया जा सकता, उसे मिथ्या ठहरानेके लिये जिनसेनाचार्यके वाक्य ही पर्याप्त होसकतेहैं और यदि वैसे कोई विरोधी वाक्य उपलब्ध नहीं हैं तो या तो हमें कोई आपत्तिही न करनी चाहिये और या जिनसेनाचार्यको ही अपनी आपत्तिका विषय बनाना चाहिये।

जैन कथा ग्रंथों में सैंकड़ों बातें एक दूसरे के विरुद्ध पाई जाती हैं, और वह आचार्यों आचार्यों का परस्पर मतभेद है। पंडित टोडरमलजी आदि के सिवाय, पं० भागचन्दजी ने भी इस भेद भाव को लक्षित किया है और नेमिपुराण की अपनी भाषाटीका के अन्त में उसका कुछ उल्लेख भी किया है *। परन्तु यहां पर हम एक बहुत प्रसिद्ध घटना को लेते हैं, और वह यह है कि सीता को उत्तरपुराण में रावण की पुत्री और पद्मपुराणादिक में राजा जनक की पुत्री बतलाया है। अब यदि कोई पुस्तक लेखक अपनी पुस्तकमें इस बात का उल्लेख

---

* यथाः—" यहां इतना और जानना इस पुराण की कथा [और] हरिवंशपुराणकी कथा कोई कोई मिलै नाहीं जैसे हरिवंशपुराण विषैतो भगवानकाजन्म सौरीपुर कह्या और इहां द्वारिका का जन्म कह्या बहुरि हरिवंश में कृष्ण तीसरे नरक गया कह्या इहां प्रथम नरक गया कह्या और भी नाम ग्रामादिक मे फेर है सो इहां भ्रम नाहीं करना। यह छद्मस्थ आचार्यन के ज्ञान में फेर पर्या है। "—नेमिपुराण भाषा नानौताके एक मंदिर की प्रति।

करे कि 'श्रीगुणभद्राचार्य प्रणीत उत्तरपुराण के अनुसार सीता रावण की बेटी थी' तो क्या उस पुस्तक की समालोचना करते हुए किसी भी समालोचक को ऐसा कहने अथवा इस प्रकार की आपत्ति करने का कोई अधिकार है कि पुस्तककार का वह लिखना झूठ है, क्योंकि पद्मपुराणादिक दूसरे कितने ही ग्रन्थों में सीता को राजा जनक की पुत्री लिखा है? कदापि नहीं। उसे उक्त कथन को झूठा बतलाने से पहले यह सिद्ध करना चाहिये कि वह उस उत्तरपुराण में नहीं है जिस का पुस्तक में हवाला दिया गया है, अथवा पुस्तककार पर झूठ का आरोप न करके, उस विषय में, सीधा उत्तरपुराणके रचयिता पर ही आक्रमण करना चाहिये। यदि वह ऐसा कुछ भी नहीं करता बल्कि उस पुस्तककार के उक्त कथनको मिथ्या सिद्ध करने के लिये पद्मपुराणादि दूसरे ग्रन्थों के अवतरणों को ही उद्धृत करता है तो विद्वानों की दृष्टि में उस की वह कृति (समालोचना) निरी अनधिकार चर्चा के सिवाय और कुछ भी महत्व नहीं रख सकती और न उसके उन अवतरणों का ही कोई मूल्य हो सकता है। ठीक वही हालत हमारे समालोचकजी और उनके उक्त अवतरणों (उद्धृत वाक्यों) की समझनी चाहिये। उन्हें या तो लेखक के कथन के विरुद्ध जिनसेनाचार्य के हरिवंशपुराण से कोई वाक्य उद्धृत करके बतलाना चाहिये था और या वैसे (चचा भतीजा जैसे) सम्बन्ध-विधान के लिये जिनसेनाचार्य पर ही कोई आक्षेप करना चाहिये था; यह दोनों बातें न करके जो आपने, लेखक के कथनको असत्य ठहराने के लिये, पाण्डवपुराणादि दूसरे ग्रन्थों के वाक्य उद्धृत किये हैं वे सब असंगत, गैरमुताल्लिक और आप की अनधिकार चर्चा का ही परिणाम जान पड़ते हैं, सद्विचार-सम्पन्न विद्वानों की दृष्टि में उन का कुछ भी

मूल्य नहीं है, वे समझ सकते हैं कि ऐसे अप्रस्तुत गैरमुताल्लिक (irrelevant) हज़ार प्रमाणों से भी लेखकका वह उल्लेख असत्य नहीं ठहराया जासकता। और न ये दूसरे ग्रन्थोंके प्रमाण, जिनके लिये समालोचना के ७ पेज रोके गये हैं कथंचित् मतभेद अथवा विशेष कथन को प्रदर्शित करने के सिवाय, जिनसेनाचार्य के वचनों पर ही कोई आपत्ति करने के लिये समर्थ हो सकते हैं; क्योंकि ये सब ग्रन्थ जिनसेनाचार्य-प्रणीत हरिवंशपुराण से बाद के बने हुए हैं—जिनसेन का हरिवंशपुराण शक सं० ७०५ में, उत्तरपुराण शक सं० ८२० में, काष्ठासंघी भट्टारक यशःकीर्तिका प्राकृत हरिवंशपुराण वि० सं० १५००में और शुभचन्द्र भट्टारकका पाण्डवपुराण वि०सं०१६०८ में बनकर समाप्त हुआ; बाकी ब्रह्मनेमिदत्तके नेमिपुराण और आराधनाकथाकोश तथा जिनदास ब्रह्मचारीका हरिवंशपुराण ये सब ग्रन्थ विक्रम की प्रायः १६वीं शताब्दी के बने हुए हैं— ऐसी हालत में, इन ग्रन्थों का जिनसेनके स्पष्ट कथन पर कोई असर नहीं पड़ सकता और न, प्राचीनताकी दृष्टि से, इन्हें जिनसेन के हरिवंशपुराण से अधिक प्रामाणिक ही माना जा सकता है। इन में उत्तरपुराण को छोड़कर शेष ग्रन्थ तो बहुत कुछ आधुनिक हैं, भट्टारकों तथा * भट्टारकशिष्यों के रचे हुए हैं और उन्हें जिनसेन के हरिवंशपुराण के मुकाबले में कोई महत्व नहीं दिया जा सकता। रहा उत्तरपुराण, उसके कथन से यह मालूम नहीं होता कि देवकी और वसुदेव में चचा भतीजी का सम्बन्ध नहीं था,—बल्कि उस सम्बन्ध का होना ही अधिकतर पाया जाता है, और इस बात को आगे

* ब्रह्मनेमिदत्त भट्टारक मल्लिभूषण के और जिनदास ब्रह्मचारी भट्टारक सकलकीर्ति के शिष्य थे।

चलकर स्पष्ट किया जायगा । साथ ही, उत्तरपुराण और जिनसेन के हरिवंशपुराण की सम्मिलित रोशनी से दूसरे प्रमाणों पर भी यथेष्ट प्रकाश डाला जायगा । यहांपर, इसवक्त मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि समालोचकजीने लेखकको सम्बोधन करके उसपर यह कटाक्ष किया है कि वह पं० गजाधरलालजी के भाषा किये हुए हरिवंशपुराणके कुछ अगले पृष्ठोंको यदि पलटकर देखता तो उसे पता लगजाता कि उसके ३३६ वें पृष्ठकी २४ वीं लाइनमें स्पष्ट लिखा है कि—

"रानी नन्दयशा इस दशार्ण नगरमें देवसेनकी धन्या नामक स्त्रीसे यह देवकी उत्पन्न हुई है।"

बेशक, समालोचकजी! लेखकको इस भाषा हरिवंशपुराण के पृष्ठोंको पलटकर प्रकृत पृष्ठको देखनेका कोई अवसर नहीं मिला। परन्तु अब आपकी सूचनाको पाकर जो उसे देखा गया तो उसमें बड़ीही विचित्रताका दर्शन हुआ है । वहाँ पं० गजाधरलालजी ने उक्त वाक्यको लिये हुए, एक श्लोकका जो अनुवाद दिया है वह इस प्रकार है :—

"और रानी नंदयशाने उन्हीं पुत्रोंकी माता होनेका तथा रेवती धायने उनकी धाय होनेका निदान बाँधा । सो ठीकही है—पुत्रोंका स्नेह छोड़ना बड़ा ही कठिन है । इसके बाद वे सब लोग समीचीन तपके प्रभावसे महाशुक्र स्वर्गमें सोलहसागर आयुके भोक्ता देव हुये । वहाँसे आयुके अन्तमें चयकर शंखका जीव रोहिणीसे उत्पन्न बलभद्र हुआ है । रानी नंदयशा श्रेष्ठ इस दशार्ण नगरमें देवसेनकी धन्या नामक स्त्रीसे यह देवकी उत्पन्न हुई है और धाय भद्रिलसा नगरमें सुदृष्टी नामक सेठकी अलका नामकी स्त्री हुईहै॥१६७॥"

यह जिनसेनके जिस मूल श्लोक नं० १६७ का अनुवाद किया गया है वह हरिवंशपुराणके ३३वें सर्गमें निम्नप्रकारसे पाया जाता है:—

"धात्री मानुष्यकं प्राप्ता पुरे भद्रिलसाह्वये।
सुदृष्टिश्रेष्ठिनो भार्या वर्तते ह्यलकाभिधा॥"

कोईभी संस्कृतका विद्वान इस श्लोकका वह अनुवाद नहीं कर सकता जोकि पं०गजाधरलालजीने किया है और न इसका वह कोई भावार्थ ही होसकता है। इस श्लोक का सीधा सादा आशय सिर्फ इतनाही होता है कि 'वह धाय (रेवती) मनुष्य जन्मको प्राप्त हुई इस समय भद्रिलसा नामक नगरमें सेठ सुदृष्टिकी अलका नामकी स्त्री है।' और यह आशय उक्त अनुवादके अन्तिम वाक्यमें आजाता है, इसलिये अनुवादका शेषांश, जिसमें समालोचकजीका बड़े दर्पके साथ प्रदर्शित किया हुआ वह वाक्यभी शामिल है, मूल ग्रन्थसे बाहरकी चीज जान पड़ता है। मूलग्रन्थमें, इस श्लोकसे पहले या पीछे, दूसरा कोईभी श्लोक ऐसा नहीं पाया जाता जिसका आशय 'रानी नंदयशा' से प्रारंभ होनेवाला उक्तवाक्य होसके *। इस श्लोकसे पहले "कुर्वन्निर्नामकस्तीव्रं" नामका पद्य और बादको 'गंगाद्या देवकी गर्भे' नामका पद्य पाया जाता है, जिन दोनोंका अनुवाद, इसी क्रमसे—उक्त अनुवादसे पहले पीछे—प्रायः ठीक किया गया है। परंतु उक्त पद्यके अनुवादमें बहुतसी बातें ऊपरसे मिलाई गई हैं, यह स्पष्ट है; और इस प्रकारकी मिलावट औरभी सैंकड़ों पद्योंके अनुवादमें पाई जाती है। जो न्यायतीर्थ गजाधरलालजी

* देखो देहलीके नयेमंदिर और पंचायती मंदिरके हरिवंशपुराणकी दोनों प्रतियोंके क्रमशः पत्र नं० २०७ और १५१।

पं० दौलतरामजीकी भाषाटीका पर +आक्षेप करते हैं वे स्वयंभी ऐसा गलत अथवा मिलावटको लिये हुए अनुवाद प्रस्तुत कर सकते हैं यह बड़े ही खेदका विषय है ! पं० दौलतरामजीने तो अपनी भाषा वचनिकामें इतनाही लिखा है कि "राणी नंदियसाका जीव यह देवकी भई" और वह भी उक्त पद्यकी टीकामें नहीं बल्कि अगले पद्यकी टीकामें वहाँ उल्लेखित 'देवकी' का पूर्वसम्बंध व्यक्त करनेके लिये लिखा है × परन्तु गजाधरलालजी ने इसपर अपनी ओरसे देवकीके माता पिता और उत्पत्ति स्थानके नामोंकी मगजी भी चढादी है, और उसमें दशार्ण नगरसे पहले उनका 'इस' शब्दका प्रयोग और भी ज्यादा खटकता है; क्योंकि देवकी और वसुदेवजीसे यह सब कथा कहते हुए अतिमुक्तक मुनि उस समय दशार्णनगरमें उपस्थित नहीं थे बल्कि मथुराके पासके सहकार वनमें उपस्थित थे इसलिये उनकी ओरसे 'इस' आशयके शब्दका प्रयोग नहीं बन सकता। परन्तु यहाँपर अनुवादकी भूलें प्रकट करना कोई इष्ट नहीं है; मैं इस कथन परसे सिर्फ इतनाही बतलाना चाहता हूं कि जिस बातको समालोचकजीने बड़े दर्पके साथ लेखकको दिखलाना चाहा था उसमें कुछभी सार नहीं है। वह जिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराणसे बाहरकी चीज़ है और इसलिये उसके आधार पर कोई आपत्ति नहीं की जासकती। समालोचकजीके सामने

+देखो गजाधरलालजीके भाषा हरिवंशपुराणकी प्रस्तावना का पृष्ठ नं० २।

× यथाः—'तहाँ ते चयकरि रेवती धायका जीव भद्दलपुर विषै सुदृष्टि नामा सेठकै अलका नामा स्त्री है ॥ ६७ ॥ अर राणी नंदियसाका जीव यह देवकी भई ताकै वे गंगदेव आदि पूर्वले पुत्र स्वर्गतैं चयकरि याजन्मविषै भी पुत्र होइंगे ॥" १६८ ॥

जिनसेनका हरिवंशपुराण मौजूद था—उन्होंने उसके कितने ही वाक्य समालोचनामें दूसरे अवसरोंपर उद्धृत किये हैं—वे स्वयं इस बातको जानते थे कि पं० गजाधरलालजीने जो बात अनुवादमें कही है वह मूलमें नहीं है—यदि मूलमें होती तो वे सबसे पहले कूदकर उस मूलको उद्धृत करते और तब कहीं पीछे से अनुवादका नाम लेते—फिरभी उन्होंने गजाधरलालजी के मिथ्या अनुवादको प्रमाणमें पेश किया, यह बड़ेही दुःसाहसकी बात है। उन्हें इस बातका जराभी खयाल नहीं हुआ कि जिस धोखादेहीका मैं दूसरों पर झूठा इलजाम लगा रहा हूँ उसका अपनी इस कृतिसे स्वयंही सचमुच अपराधी बना जारहा हूं और इसलिये मुझे अपने पाठकोंके सामने 'उसी * हरिवंशपुराण' या '†जिनसेन' के नामपर ऐसी मिथ्या बातको रखते हुए शर्म आनी चाहिये। परन्तु जान पड़ता है समालोचकजी सत्य अथवा असलियत पर पर्दा डालनेकी धुनमें इतने मस्त थेकि उन्होंने शर्म और सद्विचारको उठाकर एकदम बालाए ताक़ रखदिया था, और इसीसे वे ऐसा दुःसाहस करसके हैं।

हम समालोचकजीसे पूछते हैं कि, आपने तो पं० गजाधरलालजीके भाषा किये हुये हरिवंशपुराणके सभी पत्रोंको खूब उलट पलट कर देखा है तब आपको उसके ३६५वें पृष्ठ पर ये पंक्तियाँ भी जरूर देखनेको मिली होंगी जिनमें नवजात बालक कृष्णको मथुरासे बाहर लेजाते समय वसुदेवजी और कंसके बंदी पिता राजा उग्रसेनमें हुई वार्तालापका उल्लेख है:—

"पूज्य! इस रहस्यका किसीको भी पता न लगे इस देवकीके पुत्रसे नियमसे आप बंधनसे मुक्त होंगे उत्तर में उग्रसेनने कहा—अहा! यह मेरे भाई देवसेनकीपुत्री

* † देखो समालोचनाका पृष्ट ३ रा और ६ठा।

देवकीका पुत्र है मैं इसकी बात किसीको नहिं कह सकता मेरी अंतरंग कामना है कि यह दिनोंदिन बढ़े और वैरीको इसका पता तक भी न लगे।"

इस उल्लेखद्वारा यह स्पष्ट घोषणा कीगई है कि 'देवकी' उन देवसेनकी पुत्री थी जो कंसके पिता उग्रसेनके भाई थे और इसलिये उग्रसेनकी पुत्री होनेसे देवकी और वसुदेवमें जो चचा भतीजीका सम्बंध घटित होता है वही देवसेनकी पुत्री होनेसे भी घटित होता है—उसमें रंचमात्रभी अन्तर नहीं पड़ता—क्योंकि उग्रसेन और देवसेन दोनों सगे भाई थे। फिर देवकीके 'भतीजी' होनेसे क्यों इनकार किया गया? और क्यों इस उल्लेखको छिपाया गया? क्या इसीलिये कि इससे हमारे सारे विरोध पर पानी फिर जायगा? क्या यह स्पष्टरूपसे मायाचारी, चालाकी और अपने पाठकोंको धोका देना नहीं है? और क्या अपनी ऐसी ही सत्कृतियों (!) के भरोसे आप दूसरों पर मायाचारी, चालाकी तथा धोकादेही का इलज़ाम लगाने के लिये मुँह ऊँचा किये हुए हैं? आपको ऐसी नीचकृतियोंके लिये घोर लज्जा तथा शर्म होनी चाहियेथी!!

देवसेन राजा उग्रसेनके सगेभाई और वसुदेवके चचाज़ाद भाई थे, यह बात श्रीजिनसेनाचार्यके निम्न वाक्योंसे प्रकटहै:—

उदियाय यदुस्तत्र हरिवंशोदयाचले।
यादवप्रभवो व्यापी भूमौ भूपतिभास्करः॥ ६॥
सुतो नरपतिः तस्माद्युद्भूद्भवधूपतिः।
यदुस्तस्मिन्भुवं न्यस्य तपसा त्रिदिवं गतः॥ ७॥
सूरश्चापि सुवीरश्च शूरौ वीरौ नरेश्वरौ।
स तौ नरपतिः राज्ये स्थापयित्वा तपोभजत्॥ ८॥

सूरः सुवीरमास्थाप्य मथुरायाँ स्वयं कृती ।
स चकार कुशद्येषु पुरं सौर्यपुरं परम् ॥ ९ ॥
शूराश्चान्धकवृष्ट्याद्याः सूराद्धवन्सुताः ।
वीरो भोजकवृष्ट्याद्याः सुवीरान्मथुरेश्वरात् ॥ १० ॥
ज्येष्ठपुत्रे विनिक्षिप्तक्षितिभारो यथायथम् ।
सिद्धौ सूरसुवीरौ तौ सुप्रतिष्ठेन दीक्षितौ ॥ ११ ॥
आसीदन्धकवृष्टेश्च सुभद्रा वनितोत्तमा ।
पुत्रास्तस्या दशोत्पन्ना स्त्रिदशाभा दिवश्च्युताः॥१२॥
समुद्रविजयोऽक्षोभ्यस्तथा स्तिमितसागरः ।
हिमवान्विजयश्चान्योऽचलो धारणपूरणौ ॥ १३ ॥
अभिचंद्र इहाख्यातो वसुदेवश्च ते दश ।
दशार्हाः सुमहाभागाः सर्वेऽप्यन्वर्थनामकाः ॥ १४ ॥
कुन्तीमद्री च कन्ये द्वे मान्ये स्त्रीगुणभूषणे ।
लक्ष्मीसरस्वतीतुल्ये भगिन्यो वृष्टिजन्मिनाम् ॥ १५ ॥
राज्ञो भोजकवृष्टेर्या पत्नी पद्मावती सुतान् ।
उग्रसेन-महासेन-देवसेनानसूत सा ॥ १६ ॥

—हरिवंशपुराण, १८वां सर्ग* ।

इन वाक्यों द्वारा यह सूचित किया गया है कि 'हरिवंशमें राजा 'यदु' का उदय हुआ, उसीसे यादववंशकी उत्पत्ति हुई और वह अपने पुत्र 'नरपति' को पृथ्वी का भार सौंप कर, तपश्चरण करता हुआ, स्वर्ग लोक को प्राप्त हुआ; नरपतिके

*देखो 'नया मंदिर' देहली की प्रति ।

'सूर' और 'सुवीर' नामके दो पुत्र हुए, जिन्हें राज्य पर स्थापित करके उसने तप लेलिया; इसके बाद सूरने अपने भाई सुवीर को मथुरा में स्थापित करके स्वयं सौर्यपुर नगर बसाया; सूर से 'अन्धकवृष्टि' आदि शूर पुत्र उत्पन्न हुए और मथुराके स्वामी सुवीर से 'भोजकवृष्टि' आदि वीर पुत्रों की उत्पत्ति हुई; सूर और सुवीर दोनों ने अपने अपने ज्येष्ठ पुत्र (अंधकवृष्टि, भोजकवृष्टि) को राज्य देकर सुप्रतिष्ठ मुनिसे दीक्षा ली और सिद्धपदको प्राप्त किया; अन्धकवृष्टिकी सुभद्रा स्त्रीसे समुद्रविजय, अक्षोभ्य, स्तिमितसागर, हिमवान, विजय, अचल, धारण, पूरण, अभिचन्द्र, और वसुदेव नामके दस महाभाग्यशाली पुत्र उत्पन्न हुए, साथही कुन्तीऔर मद्री नामकी दो कन्याएँ भी हुईं; और राजा भोजकवृष्टिकी पद्मावती स्त्री से उग्रसेन, महासेन और देवसेन नामके तीन पुत्र × उत्पन्न हुए।'

यही वह सब वंशावली है जिसका सार लेखकने वसुदेवजी

× समालोचकजीने, तीन पुत्रोंके अतिरिक्त एक पुत्रीके भी नामोल्लेखका पृष्ठ ३ पर उल्लेख किया है। परन्तु देहलीके नये मंदिरकी प्रतिमें, यहाँपर, पुत्रीका कोई उल्लेख नहीं पाया जाता। हाँ, उत्तरपुराण में 'गाँधारी' नामकी पुत्रीका उल्लेख जरूर मिलता है। परन्तु वहाँ वसुदेवके पिता और उग्रसेनके पिता दोनोंको सगे भाई बतलाया है। और दोनोंके पिताका नाम शूरवीर तथा पितामहका सूरसेन दिया है। यथा :—

अवार्य-निजशौर्येण निर्जिताशेषविद्विषः।
ख्यातशौर्यपुराधीशसूरसेनमहीपतेः॥ ९३॥
सुतस्य शूरवीरस्य धरिण्याश्च तनूद्भवौ।
विख्यातान्धकवृष्टिश्च पतिर्वृष्टिनरादिवाक् ॥९४॥

—७०वाँ पर्व।

के उदाहरणको प्रारंभ करते हुए दिया था। उसमें 'उग्रसेन'की जगह 'देवसेन' बना देनेसे वह उक्त उल्लेख पर भी ज्योंकी त्यों घटित हो सकती है। इस वंशावलीमें आगे समुद्र विजयादि तथा उग्रसेनादिकी संततिका कोई उल्लेख नहीं है। उसका उल्लेख ग्रन्थमें खंडरूपसे पाया जाता है और उन खंड कथनों परसे ही देवकी नृप भोजकवृष्टिकी पौत्री तथा राजा सुवीरकी प्रपौत्री और इसलिये वसुदेवकी 'भतीजी' निश्चित होती है।

यहाँ, उन खण्डकथनोंका उल्लेख करनेसे पहले, मैं अपने पाठकोंको इतना और बतला देना चाहता हूं कि, यद्यपि, भाषा हरिवंशपुराण के पृष्ठ ३३६ और ३६५ वाले उक्त दोनों उल्लेखों परसे यह पाया जाता है कि पं० गजाधरलालजीने देवकीको राजा उग्रसेनके भाई देवसेन (राजा) की पुत्री बतलाया है और देवसेनकी स्त्रीका नाम 'धन्या' (धनदेवी) तथा उनके वास-स्थानका नाम 'दशार्णपुर' प्रकट किया है परन्तु उनका यह कथन सन १९१६ का है, जिस सालमें कि उनका भाषा हरिवंशपुराण प्रकाशित हुआ था। इससे करीब तीन वर्ष बाद—सन १९१९ में—,'पद्मावती पुरवाल'के द्वितीय वर्षके ५वें अंकमें 'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण' नामके प्रकृत लेखपर अपना विचार प्रकट करते हुए, उन्होंने स्वयं देवकीको राजा उग्रसेन की पुत्री और वसुदेवकी भतीजी स्वीकार किया है। आपके उस विचार लेखका एक अंश इस प्रकार है :—

> "जिस समय राजा वसुदेव आदि सरीखे व्यक्तियोंका अस्तित्व पृथ्वीपर था, उस समय अयोग्य व्यभिचार नहीं था जिस स्त्रीको ये लोग स्वीकार करलेते थे उसके सिवाय अन्य स्त्रीको मा बहिन पुत्रीके समान मानते थे इसलिये उस समयमें देवकी और वसुदेव सरीखे विवाह भी स्वीकार कर लिये जातेथे। अर्थात्

यद्यपि कुटुम्ब नाते राजा उग्रसेन वसुदेवके भाई लगते थे परन्तु किसी अन्य कुटुम्बसे आईहुई स्त्रीसे उत्पन्न उग्रसेनकी पुत्रीका भी वसुदेवने पाणिग्रहण करलिया था। लेकिन उसके बाद फिर ऐसा जमाना आता गया कि लोगोंके हृदयोंसे धार्मिकवासना विदा ही हो गई, लोग खास पुत्री और बहिन आदिको भी स्त्री बनानेमें संकोच न करने लगे तो गोत्र आदि नियमोंकी आवश्यक्ता समझी गई लोगोंने अपनेमें गोत्रआदिकी स्थापना कर चचा ताऊजात बहिन भाईके शादीसम्बन्धको बंद किया। वही प्रथा आजतक बराबर जारी है।"

इस अवतरण से इतनाही मालूम नहीं होता कि पण्डित गजाधरलालजीने देवकी को राजा उग्रसेनकी पुत्री तथा वसुदेवको उग्रसेनका कुटुम्बनाते भाई स्वीकार किया है और दोनों के विवाहको उस समयकी दृष्टिसे उचित प्रतिपादन किया है बल्कि यह भी स्पष्ट जान पड़ता है कि उन्होंने उस समय चचा ताऊजात बहिन भाईके शादी सम्बंधका रिवाज माना है और यह स्वीकार किया है कि उससमय विवाहमें गोत्रादिके नियमों की कोई कल्पना नहीं थी, जरूरत पड़ने पर बादको उनकी सृष्टि कीगई और तभीसे उस प्रकारके कुटुम्बमें होनेवाले-शादी सम्बंध बंद किये गये।

इस अवतरणके बाद पंडितजीने, आजकल वैसे विवाहोंकी योग्यता का निषेध करते हुए, यह विधान किया है कि यदि धर्मके वास्तविक स्वरूपको समझकर लोगोंमें धर्मकी स्वाभाविक—(पहले जैसी) प्रवृत्ति होजाय तो आजकल भी ऐसे विवाहोंसे हमारी कोई हानि नहीं हो सकती। यथा.—

"इसलिये यह बात सिद्ध है वसुदेव और देवकी जैसे विवाहोंकी इस समय योग्यता नहीं। ···· लेकिन हाँ यदि हम

इस बातकी ओर लीन होजाय कि जो कुछ हमारा हितकारी है वह धर्म है। हम वास्तविक धर्मका स्वरूप समझ निकलें हिता-हितका विवेक होजाय हमारे धार्मिक कार्य किसी प्रेरणासे न होकर स्वभावतः हो निकलें विषयलालसाको हम अपने सुखका केन्द्र न समझें उस समय देवकी और वसुदेव कैसे विवाहोंसे हमारी कोई हानि नहीं हो सकती।"

इस सब कथन पर से कोई भी पाठक क्या यह नतीजा निकाल सकता है कि पं० गजाधरलालजी ने देवकी और वसुदेव के पूर्वसम्बन्धके विषयमें लेखकसे कोई भिन्न बात कही है अथवा कुटुम्ब के नाते देवकी को वसुदेव की भतीजी माननेसे इन्कार किया है? कभी नहीं, बल्कि उन्होंने तो अपने लेखके अन्त में इनके विवाह की बाबत लिखा है कि वह "अयुक्त न था उस समय यह रीति रिवाज जारी थी।" और उस की पुष्टि में अग्रवालोंका दृष्टांत दिया है। फिर नहीं मालूम समालोचकजी ने किस बिरते पर उनका वह 'रानी-मन्द्रयशा' वाला वाक्य बड़े दर्प के साथ प्रमाण में पेश किया था? क्या एक वाक्यके छलसे ही आप अपने पाठकों को ठगना चाहते थे? भोले भाई भले ही आप के इस जाल में फँस जाँय परन्तु विशेषज्ञों के सामने आपका ऐसा कोई जाल नहीं चल सकता। समझदारों ने जिस समय यह देखा था कि आपने और जगह तो जिनसेनाचार्यकृत हरिवंशपुराण के वाक्योंको उद्धृत किया है परन्तु इस मौके पर, जहाँ जिनसेन के वाक्य को उद्धृत करनेको खास ज़रूरत थी, वैसा न करके अनुवाद के एक वाक्य से काम लिया है, वे उसी वक्त ताड़ गये थे कि ज़रूर इसमें कोई चाल है—अवश्य यहां दाल में कुछ काला है—और वस्तुस्थिति ऐसी नहीं जान पड़ती। खेद है कि जो समालोचकजी, अपनी समालोचना में, पण्डित

गजाधरलालजी के वाक्यों को बड़ी श्रद्धादृष्टिसे पेश करते हुए नज़र आते हैं उन्होंने उक्त पण्डित जी की एक भी बात मानकर न दी—न तो देवकी को राजा उग्रसेनकी लड़की माना और न उग्रसेन के भाई देवसेन की पुत्री ही स्वीकार किया! प्रत्युत इस के, जिनसेनाचार्य के कथन को छिपाने और उस पर पर्दा डालनेका भरसक यत्न किया है! इस हठ धर्मी और बेहयाईका भी क्या कहीं कुछ ठिकाना है? जान पड़ताहै विधर्मी जनोंकी कुछ कहासुनीके खयालने समालोचकजीको बुरी तरह से तंग किया है और इसी से समालोचनाके पृष्ठ ४ पर वे लेखक पर यह आक्षेप करते हैं कि उसने—"यह नहीं विचार किया कि इस असत्य लेखके लिखने से विधर्मीजन पवित्र जैनधर्मको कितने घृणा पूर्ण दृष्टिसे अवलोकन करेंगे।"

महाशयजी! आप अजैनों की—अपने विधर्मी जनों की—चिन्ता नकीजिये, वे सब आप जैसे नासमझ नहीं हैं जो किसी रीति-रिवाज अथवा घटना-विशेष को लेकर पवित्र धर्म से भी घृणा कर बैठें, उनमें बड़े बड़े समझदार तथा न्याय-निपुण लोग मौजूद हैं और प्राचीन इतिहास की खोज का प्रायः सारा काम उन्हीं के द्वारा हो रहा है। उनमें भी यह सब हवा निकली हुई है और वे खूब समझते हैं कि पहले ज़माने में विवाहविषयक क्या कुछ नियम उपनियम थे और उनकी शकल बदल कर अब क्यासे क्या होगई है। और यदि यह मान लिया जाय कि उन में भी आप जैसी समझके कुछ लोग मौजूद हैं तो क्या उनके लिये—उनकी निःसार कहा सुनी के भय से—सत्यको छोड़ दिया जाय? सत्य पर पर्दा डाल दिया जाय? अथवा उसे असत्य कह डालने की धृष्टता की जाय? यह कहाँका न्याय है? क्या यही आपका धर्म है? ऐसी ही सत्यवादिताके आप प्रेमी हैं? और उसीका आपने अपनी

समालोचनामें ढोल पीटा है? महाराज! सत्य इस प्रकार छिपाये से नहीं छिप सकता, उस पर पर्दा डालना व्यर्थ है, आप जैन धर्म की चिन्ता छोड़िये और अपने हृदय का सुधार कीजिये। जैन धर्म किसी रीति-रिवाज के आश्रित नहीं है—वह अपने अटलसिद्धान्तों और अनेकान्तात्मक स्वरूपको लिये हुए वस्तुतत्व पर स्थित है—उसे कृपया अपने रीति-रिवाजोंकी दलदलमें मत घसीटिये, उसपर से अपनी कुत्सित प्रवृत्तियों और संकीर्ण विचारोंका आवरण हटाकर लोगों को उसके नग्नस्वरूपका दर्शन होने दीजिये, फिर किसीकी ताब नहीं कि कोई उसे घृणाकी दृष्टिसे अवलोकन कर सके।

और इस देवकी-वसुदेवके सम्बंध पर ही आप इतने क्यों उद्विग्न होते हैं? यह चचा भतीजीका सम्बंध तो कई पीढ़ियोंको लिये हुए है—देवकी वसुदेवकी सगी भतीजी नहीं थी, सगी भतीजी तब होती जब समुद्रविजयादि वसुदेवके ६ सगे भाइयों में से वह किसीकी लड़की होती—; परन्तु आप इससे भी करीबी सम्बन्धको लीजिये, और वह राजा अग्रसेनके पोते पोतियोंका सम्बंध है। कहा जाता है कि अग्रवाल वंशकी, जिन राजा अग्रसेनसे उत्पत्ति हुई है उनके १८ पुत्र थे। इन पुत्रों का विवाह तो राजा अग्रसेन ने दूसरे राजाओंकी राजकन्याओं से कर दिया था परन्तु राजा अग्रसेनकी युद्धमें मृत्यु होनेके साथ उनका राज्य नष्ट होजानेके कारण जब इन राज्यभ्रष्ट १८ भाइयोंको अपनी अपनी संततिके लिये योग्य विवाहसंबंध का संकट उपस्थित हुआ तो इन्होंने अपने पिताके पूज्य गुरु पतंजलि और मंत्रीपुत्रोंके परामर्शसे अपनेमें १८ (एक प्रकारसे १७॥) गोत्रोंकी कल्पना करके आपसमें विवाहसंबंध करना स्थिर किया—अर्थात्, यह ठहराव किया कि अपना गोत्र बचा कर दूसरे भाईकी संततिसे विवाह करलिया जाय—और तदनु-

सार एक भाईके पुत्र-पुत्रियोंका दूसरेभाईके पुत्रपुत्रियोंके साथ विवाह होगया अथवा यों कहिये कि सगे चचा-ताऊजाद भाई बहनोंका आपसमें विवाह होगया। इसके बाद भी कुटुम्ब तथा वंशमें विवाहका सिलसिला जारी रहा—कितने ही भाई-बहनों तथा चचा-भतीजियोंका आपसमें विवाह हुआ—और उन्हीं विवाहोंका परिणाम यह आजकलका विशाल अग्रवाल वंश है, जिसमें जैन और अजैन दोनों प्रकारकी जनता शामिल है। और इससे अजैनोंके लिये जैनोंके किसी पुराने कौटुम्बिक विवाह पर आपत्ति करने या उसके कारण जैन धर्मसे ही घृणा करने की कोई वजह नहीं हो सकती। आजभी अग्रवाल लोग, उसी गोत्र पद्धतिको टालकर, अपने उसी एक वंशमें—अग्रवालोंके ही साथ–विवाह सम्बन्ध करते हैं; यह प्राचीन रीति-रिवाज तथा घटनाविशेषको प्रदर्शित करनेवाला कितना स्पष्ट उदाहरण है। बाबू बिहारीलालजी अग्रवाल जैन बुलन्दशहरी ने अपने *'अग्रवाल इतिहास' में भी अग्रवालोंकी उत्पत्तिका यह सब इतिहास दियाहै। इतने परभी समालोचकजी प्राचीन कालके ऐसे विवाह-सम्बंधों पर, जिनके कारण बहुतसी श्रेष्ट जनता का इस समय अगृवाल वंशमें अस्तित्व है, घृणा प्रकाशित करते हैं और उनपर पर्दा डालना चाहते हैं, यह कितने बड़े आश्चर्यकी बात है!!

पाठकजन, यहबात मानी हुई है और इसमें किसीको आपत्ति नहीं कि 'कंस' उन यदुवशी राजा उग्रसेनका पुत्र था जिनका उल्लेख ऊपर उद्धृतकी हुई वंशावलीमें भोजक-वृष्टि के पुत्ररूपसे पाया जाता है। यह कंस गर्भमें आतेही माता

*यह इतिहास ला० हीरालाल पन्नालाल जैन, दरीबा कलाँ, देहली के पतेसे तीन आने मूल्यमें मिलता है।

पिताको अतिकष्टका कारण हुआ और अपनी आकृतिसे अत्युग्र जान पड़ताथा, इसलिये पैदा होतेही एक मंजूषामें बन्द करके इसे यमुनामें बहा दियागया था। दैवयोगसे, कौशाम्बी में यह एक कलाली (मद्यकारिणी) के घर पला, शस्त्रविद्यामें वसुदेवका शिष्य बना और वसुदेवकी सहायतासे इसने महाराज जरासंधके एक शत्रुको बाँधकर उनके सामने उपस्थित किया। इसपर जरासंधने अपनी कालिंदसेना रानीसे उत्पन्न 'जीवद्यशा' पुत्रीका विवाह कंससे करना चाहा। उसवक्त कंस का वंश-परिचय पानेके लिये जब वह मद्यकारिणी बुलाई गई और वह मंजूषा सहित आई तो उस मंजूषाके लेखपरसे जरासंधको यह मालूम हुआ कि कंस मेरा भानजा है—मेरी बहन पद्मावतीसे उग्रसेन द्वारा उत्पन्न हुआ है—और इसलिये उसने बड़ी खुशी के साथ अपनी पुत्रीका विवाह उसके साथ कर दिया। इस विवाहके अवसर पर कंसको अपने पिता उग्रसेनकी इस निर्दयताका हाल मलूम करके—कि उसने पैदा होते ही उसे नदीमें बहा दिया—बड़ा क्रोध आया और इसलिए उसने जरासंधसे मथुराका राज्य माँगकर सेना आदि साथ ले मथुराको जा घेरा। और वहाँ पिताको युद्धमें जीतकर बाँध लिया तथा अपना बंदी बनाकर उसे मथुराके द्वारपर रक्खा। इस पिछली बातको जिनसेनाचार्यने नीचे लिखे तीन पद्योंमें जाहिर किया है :—

'सद्योजातं पिता नद्यां मुक्तवानिति च क्रुधा।
वरीत्वा मथुरां लब्ध्वा सर्वसाधनसंगतः ॥ २५ ॥
कंसः कालिन्दसेनायाः सुतया सह निर्घृणः।
गत्वा युद्धे विनिर्जित्य बबन्ध पितरं हतं ॥ २६ ॥

महोग्रो भग्नसंचारं उग्रसेनं निगृह्य सः।
अतिष्ठिपत्कनिष्ठः सः स्वपुरद्वारगोचरे ॥ २७ ॥
—हरिवंशपुराण, ३३वाँ सर्ग।

इसके बाद कंस ने सोचा कि यह सब (जीवद्यशा से विवाह का होना और मथुरा का राज्य पाना) वसुदेवका उपकार है, मुझे भी उन के साथ कुछ प्रत्युपकार करना चाहिये और इसलिये उसने प्रार्थना-पूर्वक अपने गुरु वसुदेव को बड़ी भक्ति के साथ मथुरा में लाकर उन्हें गुरुदक्षिणा के तौर पर अपनी बहन 'देवकी' प्रदान की--अर्थात्, अपनी बहन देवकी का उनके साथ विवाह कर दिया।

विवाह के पश्चात् वसुदेवजी कंस के अनुरोध से देवकी सहित मथुरा में रहने लगे। एक दिन कंस के बड़े भाई 'अतिमुक्तक' मुनि *आहार के लिये कंस के घर पर आए। उस समय कंस की रानी जीवद्यशा उन्हें प्रणाम कर बड़े विभ्रम के साथ उनके सामने खड़ी हो गई और उसने देवकी

---

* ये 'अतिमुक्तक' मुनि राजा उग्रसेनके बड़े पुत्र थे और पिता के साथ किये हुए कंस के व्यवहार को देखकर संसार से विरक्त हो गये थे, ऐसा जिनदास ब्रह्मचारीके हरिवंशपुराण से मालूम होता है, जिसका एक पद्य इस प्रकार है:—

उग्रसेनात्मजो ज्येष्ठोऽतिमुक्तक इतीरितः।
भवस्थितिमिमां वीक्ष्य दध्याविति निजे हृदि ॥१२-६१॥

परन्तु ब्रह्मनेमिदत्त अपने कथाकोशमें इन्हें कंसका भी छोटा भाई लिखते हैं। यथा—

"तदा कंसलघुभ्राता दृष्ट्वा संसारचेष्टितं।
अतिमुक्तकनामासौ संजातो मुनिसत्तमः॥

का रजस्वल वस्त्र मुनि के समीप डालकर हँसी दिल्लगी उड़ाते हुए उनसे कहा 'देखो! यह तुम्हारी बहन देवकी का आनन्द वस्त्र है'।

इस पर संसारकी स्थितिके जानने वाले मुनिराजने अपनी वचन-गुप्तिको भेदकर खेद प्रकट करते हुए, कहा 'अरी क्रोडन-शीले! तू शोकके स्थानमें क्या आनंद मना रही है, इस देवकी के गर्भसे एक ऐसा पुत्र उत्पन्न होनेवाला है जो तेरे पति और पिता दोनोंके लिये काल होगा, इसे भवितव्यता समझना।' मुनिके इस कथनसे जीवद्यशाको बड़ा भय मालूम हुआ और उसने अश्रुभरे लोचनोंसे जाकर वह सब हाल अपने पतिसे निवेदन किया। कंसभी मुनिभाषण को सुनकर डर गया और उसने शीघ्रही वसुदेवके पास जाकर यह वर माँगा कि 'प्रसूति के समय देवकी मेरे घरपर रहे'। वसुदेवको इस सब वृत्तान्त की कोई खबर नहीं थी और इसलिये उन्होंने कंसकी वरयाचनाके गुप्त रहस्यको न समझ कर वह वर उसे दे दिया। सो ठीक है 'सहोदरके घर बहनके किसी नाशकी कोई आशंका भी नहीं की जाती'—कंस देवकीका सोदर (सगाभाई) था, उसके घरपर देवकीके किसी अहितकी आशंकाके लिये वसुदेवके पास कोई कारण नहीं था, जिससे वे किसी प्रकार उसकी प्रार्थनाको अस्वीकार करनेके लिये बाध्य होसकते, और इसलिये उन्होंने खुशीसे कंसकी प्रार्थनाको स्वीकार करके उसे वचन दे दिया।

यह सब कथन जिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराणसे लिया गया है। इस प्रकरणके कुछ प्रयोजनीय पद्य पं० दौलतरामजी की भाषा टीका सहित इस प्रकार हैं :--

"वसुदेवोपकारेण हृतः प्रत्युपकारधीः।
न वेत्ति किं करोमीति किंकरत्वमुपागतः॥ २८॥

अभ्यर्थ्य गुरुमानीय मथुरां पृथुभक्तितः ।
स्वसारं प्रददौ तस्मै देवकीं गुरुदक्षिणाम् ॥ २६ ॥

टीका—"कंस मथुराका राज पाय अर विचारी यह सब उपगार वसुदेवका है। सो मैं हू याकी कुछ सेवा करूँ ॥२८॥ तब प्रार्थना करि वसुदेव कूं महाभक्तितें (सूं) मथुराविषैं लाया अर अपनी बहन देवकी वसुदेवकूं परनाई ॥ २६ ॥"

"जातु चिन्मुनिवेलायामतिमुक्तकमागतम् ।
कंसज्येष्ठं मुनिं नत्वा पुरःस्थित्वा सविभ्रमम् ॥३२॥
हसंती नर्मभावेन जगौ जीवद्यशा इति ।
आनन्दवस्त्रमेतत्ते देवक्याः स्वसुरीक्षताम् ॥३३॥"

टीका—"एकदिन आहारके समै कंसके बड़े भाई अतिमुक्तक नामा मुनि कंसके घर आहार कूं आए ॥ ३३ ॥ तब नमस्कार करि जीवंयशा चंचल भावकरि हँसती थकी देवकी के रजस्वलापनेके वस्त्र स्वामीके समीप डारे अर कहती भई । ए तिहारी बहनके आनंदके वस्त्र हैं सो देषहु ॥ ३४ ॥"

"भविता योहि देवक्या गर्भेऽवश्यमसौ शिशुः ।
पत्युः पितुश्च ते मृत्युरितीयं भवितव्यता ॥ ३६ ॥"
ततो भीतमतिर्मुक्त्वा मुनिं साश्रुनिरीक्षणा ।
गत्वा न्यवेदयत्सैतत्सत्यं यतिभाषितम् ॥ ३७ ॥"
श्रुत्वा कंसोपि शंकावानाशु गत्वा पदानतः ।
वसुदेवं वरं वव्रे तीव्रधीः सत्यवाग्व्रतम् ॥ ३८ ॥
स्वामिन्वरप्रसादो मे दातव्यो भवता ध्रुवम् ।
प्रसूतिसमये वासो देवक्या मद्गृहेऽस्त्विति ॥ ३६ ॥

सोऽप्यविज्ञायवृत्तान्तो दत्तवान्वरमस्तधीः ।
नापायः शंक्यते कश्चित्सोदरस्य गृहे स्वसुः॥४०॥"

टीका—" (मुनिने कहा) या देवकीके गर्भ विषैं ऐसापुत्र होयगा जो तेरे पतिकूँ अर पिताकूँ मारेगा ॥ ३६ ॥ तब यह जीवंजशा अश्रुपात करि भरे हैं नेत्र जाके सो जायकरि अपने पतिकूँ मुनिके कहे हुए वचन कहती भई ॥ ३७ ॥ तब कंसए वचन सुनकरि शंकावान होय तत्काल वसुदेव पै गया अर वर मांग्या ॥ ३८॥ कही हे स्वामी मोहि यह वर देहु जो देवकीकी प्रसूति मेरे घर होय। सो वसुदेव तो यह वृत्तान्त जानें नाहीं॥३६॥ विना जाने कही तिहारेही घर प्रसूतिके समैं वह निवास करहु। यामें दोष कहा। बहन का जापा भाईके घर होय यहतो उचित ही है। या भाँति वचन दिया ॥ ४० ॥"

इन पद्योंमेंसे २६वें, ३३वें और ४०वें पद्यमें यह स्पष्टरूपसे घोषित किया गया है कि देवकी कंसकी बहन थी, कंसके बड़े भाई अतिमुक्तककी बहन थी और कंस उसका 'सोदर' था। 'सोदर' शब्दको यहाँ आचार्य महाराजने खासतौर पर अपनी ओरसे प्रयुक्त किया है और उसके द्वारा देवकी और कंसमें बहन भाईके अत्यंत निकट सम्बंधको घोषित कियाहै। 'सोदर' कहते हैं 'सहोदर' को—सगे भाईको—,जिनका उदर तथा गर्भाशय समान है—एक है—अथवा जो एकही माताके पेटसे उत्पन्न हुएहैं वे सब 'सोदर'कहलातेहैं। और इस लिये सोदर, समानोदर, सहोदर, सगर्भ, सनाभि, और सोदर्य ये सब एकार्थवाचक शब्द हैं। 'शब्द कल्पद्रुम' में भी सोदर का यही अर्थ दिया है। यथाः—

"सोदरः, (सह समानं उदरं यस्य। सहस्य सः।) सहोदरः इति शब्द रत्नावली।" "सहोदरः, एकमातृगर्भ-

जातभ्राता । तत्पर्यायः—, सहजः, सोदरः, भ्राता, सगर्भः, समानोदर्यः, सोदर्यः इति जटाधरः ।"

वामन शिवराम ऐप्टे ने भी अपने कोशमें इसी अर्थका विधान कियाहै । यथा :—

"सोदर a. [समानमुदरं यस्य समानस्य सः] Born from the same womb (गर्भ, गर्भाशय), uterine. —रः a uterine brother."

"Uterine, सहोदर, सोदर, समानोदर, सनाभि."

ऐसी हालत में, देवकी कंस की बहन ही नहीं किन्तु सगी बहन हुई और इसलिये उसे राजा उग्रसेन की पुत्री, नृप भोजकवृष्टि की पौत्री, महाराजा सुवीर की प्रपौत्री और (सुवीर के सगे भाई सूर के पोते) वसुदेव की भतीजी कहना कुछ भी अनुचित मालूम नहीं होता ।

वंशावलीके बादके इन्हीं सब खण्डउल्लेखोंको लेकर देवकी को राजा उग्रसेनकी पुत्री लिखा गया था । परन्तु हाल में जिनसेनाचार्य के हरिवंशपुराण से एक ऐसा वाक्य उपलब्ध हुआ है जिससे मालूम होता है कि देवकी खास उग्रसेन की पुत्री नहीं किन्तु उग्रसेनके भाईकी पुत्री थी और वह वाक्य इस प्रकार है :-

प्रवर्द्धतां भ्रातृशरीरजायाः सुतोऽयमज्ञेय मरेरितीष्टां ।
तदौग्रसेनीमभिनंद्य वाचमम् विनिर्जग्मतुराशु पुर्याः ॥२६॥

—३५ वां सर्ग ।

यह वाक्य उस अवसर का है जब कि नवजात बालक कृष्णको लिये हुए वसुदेव और बलभद्र दोनों मथुरा के मुख्य द्वार पर पहुंच गये थे, बालक की छींक का गंभीर नाद होने पर द्वार के ऊपर से राजा उग्रसेन उसे यह आशीर्वाद दे चुके

थे कि 'तू चिरकाल तक इस संसार में निर्विघ्न रूप से जीता रहो' और इस प्रिय आशीर्वाद से संतुष्ट होकर वसुदेवजी उनसे यह निवेदन कर चुके थे कि 'कृपया इस रहस्य को गुप्त रखना, देवकी के इस पुत्र द्वारा आप बंधनसे छूटोगे (विमुक्तिरस्मात्तव दैवकेयात्)'। इस कथन के अनन्तर का ही उक्त पद्य है। इसके पूर्वार्ध में राजा उग्रसेनजी वसुदेवजी की प्रार्थना के उत्तर में पुनः आशीर्वाद देते हुए कहते हैं—'यह मेरे भाई की पुत्री का पुत्र शत्रु से अज्ञात रह कर वृद्धि को प्राप्त होवो,' और उत्तरार्ध में ग्रन्थकर्त्ता आचार्य बतलाते हैं कि 'तब उग्रसेन की इस इष्ट वाणी का अभिनन्दन करके—उस की सराहना करके—वे दोनों—वसुदेव और बलभद्र—नगरी (मथुरा) से बाहर निकल गये।'

इस वाक्य से जहाँ इस विषय में कोई संदेह नहीं रहता कि देवकी राजा उग्रसेनके भाईकी पुत्री थी वहाँ यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि वह वसुदेवकी भतीजी थी; क्योंकि उग्रसेन आदि वसुदेव के चचाज़ाद भाई थे और इस लिये उग्रसेनकी पुत्री न होकर उग्रसेनके भाईकी पुत्री होनेसे देवकी के उस सम्बन्धमें परमाणुमात्र भी अन्तर नहीं पड़ता।

राजा उग्रसेनके दो सगे भाई थे—देवसेन और महासेन—जैसा कि पहले उद्धृत की हुई वंशावली से प्रकट है। उन में से, यद्यपि, यहाँ पर किसी का नाम नहीं दिया परन्तु पं० दौलतरामजी ने अपनी भाषा टीकामें उग्रसेन के इस भाईका नाम '*देवसेन*' सूचित किया है। *यथा:*—

"हे पूज्य यह रहस्य गोप्य राखियो। या देवकीके पुत्र तैं तिहारा बंदिगृह तैं, छूटना होयगा। तब उग्रसेन कही यह मेरे भाई देवसेन की पुत्री का पुत्र वैरी की बिना जान में सुख तैं रहियो।"

पं० गजाधरलालजी ने भी इस प्रसंग पर, अपने अनुवाद में, 'देवसेन' का ही नाम दिया है जिसका पीछे उल्लेख किया जा चुका है और उनकी, पं० दौलतरामजी वाली इन पंक्तियोंके आशयसे मिलती जुलती, पंक्तियां भी ऊपर उद्धृत की जाचुकी हैं। हो सकता है कि उनका यह नामोल्लेख पं० दौलतरामजी के कथन का अनुकरण मात्र हो; क्योंकि तीन साल बाद के अपने विचार लेख में, जिसका एक अंश 'पद्मावती पुरवाल' से ऊपर उद्धृत किया जा चुका है, उन्होंने स्वयं देवकी को राजा उग्रसेन की पुत्री स्वीकार किया है। परन्तु कुछ भी हो, पं० दौलतरामजी ने उग्रसेन के उस भाई का नाम जो देवसेन सूचित किया है वह ठीक जान पड़ता है और उसका समर्थन उत्तरपुराण के निम्न वाक्यों से होता है:—

"अथ स्वपुरमानीय वसुदेवमहीपतिम्।
देवसेनसुतामस्मै देवकीमनुजां निजाम् ॥३६९॥"
विभूतिमद्वितीयैवं काले कंसस्य गच्छति।
अन्येद्युरतिमुक्ताख्यमुनिर्भिक्षार्थमागमत् ॥३७०॥"
राजगेहं समीक्ष्यैनं हासाज्जीवद्यशा मुदा।
देवकीपुष्पजानन्दवस्त्रमेतत्तवानुजा ॥ ३७१ ॥"
स्वस्याश्चेष्टितमेतेन प्रकाशयति ते मुने।
इत्यवोचत्तदाकर्ण्य सकोपः सोऽपि गुप्तिभित् ॥३७२॥"

—७०वाँ पर्व।

इन वाक्यों द्वारा यह बतलाया गया है कि—'कंसने नृप वसुदेवको अपने नगरमें लाकर उन्हें देवसेनकी पुत्री अपनी छोटी बहन 'देवकी' प्रदानकी (विवाहदी)। इसके बाद कुछ काल बीतने पर एक दिन 'अतिमुक्त' नामके मुनि भिक्षाके लिये

कंसके राज भवन पर आए । उन्हें देखकर (कंसकी रानी) जीवद्यशा प्रसन्न हो हँसीसे कहने लगी 'देखो ! यह देवकीका रजस्वल आनन्द वस्त्र है और इसके द्वारा तुम्हारी छोटी बहन (देवकी) अपनी चेष्टाको तुम पर प्रकट कर रही है ।' इसे सुन कर मुनिको क्रोध आगया और वे अपनी वचनगुप्तिको भंगकरके कहने लगे, क्या कहने लगे, यह अगले पद्योंमें बतलाया गया है।

यहाँ देवकीके लिये दो जगह पर 'अनुजा' विशेषणका जो प्रयोग किया गया हैं वह खास तौरसे ध्यान देने योग्य है। अनुजा कहते हैं *कनिष्ठा भगिनी को—† younger sister को—,जो अपने बाद पैदा हुई हो (अनु पश्चात् जाता इति अनुजा ।) और यह शब्द प्रायः अपनी सगी बहन अथवा अपने सगे ताऊ चचाकी लड़कीके लिये प्रयुक्त होता है। कंस उग्रसेन का पुत्र था और उग्रसेन देवसेन दोनों सगे भाई थे, यह बात इस ग्रन्थ (उत्तरपुराण) में भी इससे पहले मानी गई है × और इसलिये कंसने देवसेनकी पुत्री अपनी छोटी बहन देवकी (देवसेनसुतां निजां अनुजां देवकीं) वसुदेवको प्रदानकी,'

---

*देखो 'शब्दकल्पद्रुम' कोश। †देखो वामन शिवराम पेप्टेकी संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी ।

× यथाः—पद्मावत्या द्वितीयस्य वृष्टेश्च तनयास्त्रयः ।
उग्र-देव-महाद्युक्तिसेनान्ताश्च गुणान्विताः ॥ १०० ॥

* * * *

इति तद्वचनं श्रुत्वा मंजूषान्तस्थपत्रकं । गृहीत्वावाचियित्वोच्चैरुग्रसेनमहीपतः ॥३६५॥ पद्मावत्याश्च पुत्रोयमिति ज्ञात्वा महीपतिः। वितताररसुतां तस्मै राज्यार्धं च प्रतुष्टवान्॥३६६॥ कंसोप्युत्पत्तिमात्रेण स्वस्य नद्यां विसर्जनात् । —उत्तरपुराण, ७० वाँ पर्व ।

इसका स्पष्ट अर्थ यहीहोता है कि कंसने अपने चचा देवसेन की पुत्री देवकी वसुदेवसे व्याही। भावनगरकी एक पुरानी जीर्ण प्रतिमें, प्रथम पद्यमें आएहुए 'देवसेन' नाम पर टिप्पणी देते हुए, लिखा है—

"उग्रसेन-देवसेन महासेनास्त्रयो नरवृष्णेः पुत्रा ज्ञातव्याः" अर्थात्—उग्रसेन, देवसेन, और महासेन ये तीन *नरवृष्णि (भोजकवृष्टि) के पुत्र जानने चाहियें। इससे उक्त अर्थका और भी ज्यादा समर्थन हो जाता है और किसी संदेहको स्थान नहीं रहता। अस्तु; यह देवसेन मृगावती देशके अन्तर्गत दशार्णपुर के राजा थे, 'धनदेवी' इनकी स्त्री थी और इसी धनदेवी से देवकी उत्पन्न हुई थी; ऐसा उत्तरपुराणके निम्नवाक्य से प्रकट है:—

मृगावत्याख्यविषये दशार्णपुरभूपतेः ॥
देवसेनस्य चोत्पन्ना धनदेव्याश्च देवकी ।
—७१ वाँ पर्व ।

और इस लिये ब्रह्मनेमिदत्तके नेमिपुराण, जिनदास ब्रह्मचारी के हरिवंशपुराण भट्टारक शुभचन्द्रके पाण्डवपुराण और भ० यशःकीर्ति के प्राकृत हरिवंशपुराणमें देवकी के पिता, धनदेवीके पति और दशार्णपुरके राजा रूपसे जिन देवसेनका उल्लेख पाया जाता है और जिनके उल्लेखोंको, इन ग्रन्थोंसे, समालोचनामें उद्धृत किया गया है वे येही राजा उग्रसेनके भाई देवसेन हैं—उनसे भिन्न दूसरे कोई नहीं हैं। नेमिपुराणमें तो उत्तर पुराणकी उक्त दोनों पंक्तियाँभी ज्योंकि त्यों उद्धृत पाई जाती हैं बल्कि इनके बादकी "त्वंसा नन्दयशा स्त्रीत्वमुप-

* उत्तरपुराणमें भोजकवृष्टि (वृष्णि) की जगह नरवृष्णि या नरवृष्टि ऐसा नाम दिया है।

गम्य निद्रामतः" यह तीसरी पंक्ति भी उद्धृत है और ग्रन्थके प्रारंभमें अपने पुराण कथनको प्रधानतः गुणभद्रके पुराण (उत्तरपुराण) के आश्रितसूचित किया है। यथाः—

यत्पुराणं पुरोक्तं गुणभद्रादिसूरिभिः।
तद्वक्ये तुच्छबोधोऽहं किमाश्चर्यमतः परं ॥२८॥

पाण्डवपुराणमें, गुणभद्रकी स्तुतिके बाद स्पष्ट लिखा ही है कि उनके पुराणार्थका अवलोकन करके यह पुराण रचा जाता है। यथा :—

गुणभद्रभदंतोऽत्र भगवान् भातु भूतले।
पुराणाद्रौ प्रकाशार्थं येन सूर्यायितं लघु॥ १९ ॥
तत्पुराणार्थमालोक्य धृत्वा सारस्वतं श्रुतम्।
मानसे पाण्डवानां हि पुराणं भारतं ब्रुवे॥ २० ॥

जिनदास ब्रह्मचारीका हरिवंशपुराण प्रायः जिनसेनाचार्य के हरिवंशपुराणको सामने रखकर लिखा गया है और उसमें जिनसेनके वाक्योंका बहुत कुछ शब्दानुसरण पायाजाता है। जिनदासने स्वयं लिखाभी है कि गौतमगणधरादिके बाद हरिवंशके चरित्रको जिनसेनाचार्यने पृथ्वी पर प्रसिद्ध किया है। और उन्हींके वाक्यों परसे यह चरित्र अपने तथा दूसरोंके सुख-बोधार्थ यहाँ उद्धृत किया गया है। यथा :—

ततः क्रमाच्छ्रीजिनसेननाम्नाचार्येणजैनागमकोविदेन।
सत्काव्यकेलीसदनेन पृथ्व्यांनीतंप्रसिद्धिं चरितं हरेश्च॥३५॥
श्रीनेमिनाथस्य चरित्रमेतदाननं (?) नीत्वा जिनसेनसूरेः।
समुद्धृतं स्वान्यसुखप्रबोधहेतोश्चिरं नन्दतु भूमिपीठे॥४१॥"

—४०वाँ सर्ग।

और यशःकीर्तिने भी अपने प्राकृत हरिवंपुराणको जिनसेन के आधार पर लिखाहै। वे उसके शब्द-अर्थका सम्बंध जिनसेनके शास्त्र (हरिवंशपुराण) से बतलाते हैं। यथाः—

अइ महंत पिक्खिवि जणु संकिउ। ता हरिवंसु मइंमिउंहिंकिउ।

सद्द अत्थसंबंधु फुरंतउ। जिणसेणहो सत्ताहो यहु पयडिउ ॥

इन उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि उक्त नेमिपुराणादि चारों ग्रंथ जिनसेनके हरिवंशपुराण और गुणभद्रके उत्तरपुराणके आधार पर लिखे गये हैं और इसलिये इनमेंसे यदि किसीमें देवकीको कंसकी या कंसके भाई अतिमुक्तककी बहन (स्वसा), छोटी बहन (अनुजा) अथवा राजा उग्रसेनके भाईकी पुत्री (भ्रातृशरीरजा, इत्यादि) नहीं लिखा हो तो इतने परसे ही वह किसी दूसरे देवसेनकी पुत्री नहीं ठहराई जा सकती, जबतक कि कोई स्पष्ट कथन ग्रंथमें इसके विरुद्ध न पाया जाताहो। और यदि इन ग्रंथोंमेंसे किसीमें ऐसा कोई विरोधी कथनहो भी तो वह उस ग्रन्थकारका अपना तथा अर्वाचीन कथन समझना चाहिये, उसे जिनसेनके हरिवंशपुराण और गुणभद्रके उत्तरपुराणपर कोई महत्व नहीं दिया जासकता। परन्तु इन ग्रन्थोंमें ऐसा कोईभी विरोधी कथन मालूम नहीं पड़ता जिससे देवकी राजा उग्रसेनके भाई देवसेन से भिन्न किसी दूसरे देवसेनकी पुत्री ठहराई जासके*। फिरभी समालोचकजी नेमिपुराणमें

*जिनदास ब्रह्मचारीके हरिवंशपुराणमें तो उन तीनों अवसरोंपर देवकीको कंस तथा अतिमुक्तककी बहन ही लिखा है जिनपर जिनसेनके हरिवंशपुराणमें वैसा लिखागया है। यथाः—

"आनीय मथुरां भक्त्याऽभ्यर्च्याथ प्रददौ निजां। स्वसारं देवकीं तस्मै सन्मान्य मृदुभाषया ॥ ६८ ॥" "सविभ्रमा हसंतीति प्राह जीवद्यशा स्वसुः। देवक्या वीक्ष त्वं वस्त्र-

यह स्वप्न देख रहे हैं कि उसमें देवकी को कंसके मामाकी पुत्री लिखा है और उसीके निम्न वाक्योंके आधारपर यह प्रतिपादन करना चाहते हैं कि देवकी कंसके मामाकी लड़की थी, इस लिये कंस उसे बहन कहता था और इसीसे जिनसेनाचार्यने, हरिवंशपुराणमें, उसे कंसकी बहन रूपसे उल्लेखित कियाहै:—

ततः स्वयं समादाय पितुः राज्यं स कंसवाक् ।
गौरवेण समानीय वसुदेवं स्वपत्तनम् ॥ ८६ ॥
तदा मृगावतीदेशे भुर्भुजादेशनं (?) पुणत् ।
कंसमातुलजानीता[*तां]धनदेव्या[व्यां]समुद्भवा[वां] ॥८७
देवकी[कीं] नामतां[तः]कन्यां कांचिदन्य[न्यां]सुरांगना[नां]।
महोत्सवैर्ददौ तस्मै सोपि सार्धं तया स्थितः ॥ ८८ ॥

इन पद्योंमें से मध्यका पद्य नं० ८७, यद्यपि, ग्रन्थकी सब प्रतियोंमें नहीं पायाजाता—देहलीके नये मंदिरकी एक प्रतिमें भी वह नहीं है—और न इसके अभावसे ग्रन्थके कथनसम्बंधमें ही कोई अन्तर पड़ता है; हो सकता है कि यह 'क्षेपक' हो। फिर भी हमें इस पद्यके अस्तित्व पर आपत्ति करनेकी कोई ज़रूरत नहीं है। इसमें 'कंसमातुलजानीतां' नामका जो विशेषण पद है उससे यह बात नहीं निकलती कि देवकी कंसके मामाकी लड़की थी, बल्कि कंसके मातुलपुत्र द्वारा वह लाई

मृत्युकालविडंबितम् ॥ ७९ ॥ "वरमज्ञातवृत्तान्तः प्रददौ स्वच्छधीः स्वयं। तथेत्युक्त्वा स्वसुर्भातृगेहे किंच न कुत्सितं ॥ ८० ॥" —१२ वाँ सर्ग।

*इस प्रकारकी ब्रैकटोंके भीतर जो पाठ दिया है वह शुद्ध पाठ है। और ग्रंथकी दूसरी प्रतियोंमें पाया जाता है।

गई थी (कंसमातुलजेन आनीता तां=कंसमातुलजानीतां), यह उसका अर्थ होता है। कंसका मामा जरासंध था। जरासंधके किसी पुत्रद्वारा देवकी दशार्णपुरसे मथुरा लाई गई होगी, उसीका यहाँपर उल्लेख किया गया है। पिछले दोनों पद्योंमें 'कन्यां' पदके जितने भी विशेषण पद हैं वे सब द्वितीया विभक्ति के एक वचन हैं और इस लिये +"कंसमातुलजानीतां' पदका दूसरा कोई अर्थ नहीं होता जिससे देवकी को कंसके मामाकी पुत्री ठहराया जासके। इस नेमिपुराणकी भाषा टीका पंडित भागचन्द्रजीने की है उन्होंने भी इन पद्योंकी टीकामें देवकीको कंसके मामाकी पुत्री अथवा दशार्णपुरके देवसेन राजाको कंसका मामा नहीं बतलाया, जैसाकि उक्त टीकाके निम्न अंशसे प्रकट है:

"मृगावती देशविषै दशार्णपुर तहाँ देवसेन राजा अर धनदेवी रानी तिनकी देवकीनामा पुत्री मँगाय मानों दूसरी देवांगनाही है ताहि महोत्सव कर सहित वसुदेवके अर्थ देता भया। वसुदेव ता सहित तिष्ठै।"

—नानौताके एक जैनमंदिरकी प्रति।

जान पड़ता है समालोचकजीने वैसेही विना समझे उक्त पद परसे देवकीको कंसके मामाकी पुत्री और देवसेनको कंस का मामा कल्पित कर लिया है और अपनी इस निःसार कल्पना के आधार पर ही आप अपने पाठकोंका यह संदेह दूर करनेके

+देहलीके नये मंदिरकी दूसरी प्रति और पंचायती मंदिर की प्रतिमें भी मध्यका श्लोक जरूर है परन्तु उनमें इस पदकी जगह "कंसमातुल आनीता[तां]" ऐसा पाठ है, जिसका अर्थ होता है 'कंसके मामा द्वारा लाई हुई'। परन्तु वह मामा द्वारा लाईगई हो या मामाके पुत्र द्वारा, किन्तु मामाकी पुत्री नहीं थी यह स्पष्ट है।

लिये तय्यार हो गये हैं कि जिनसेनने हरिवंशपुराणमें देवकी को कंसकी बहन क्योंकर लिखा है ! यह कितने साहसकी बात है ! आपने यह नहीं सोचा कि जिनसेनाचार्य तो स्वयं देवकी को राजा उग्रसेनके भाईकी पुत्री बतला रहे हैं और देवसेन उग्रसेन का सगा भाई था, फिर वह कंसके मामाकी लड़की कैसे होसकती है ? वह तो कंसके सगे चचाकी लड़की हुई। परन्तु आप तो सत्य पर पर्दा डालनेकी धुनमें मस्त थे आपको इतनी समझ बूझसे क्या काम ?

यहाँ पर इतना और भी बतला देना उचित मालूम होता है कि पहले ज़माने में मामाकी लड़कीसे विवाह करनेका आम रिवाज था और इसलिये मामाकी लड़कीको उस वक्त कोई बहन नहीं कहता था। और न शास्त्रोंमें बहन रूप से उसका उल्लेख पाया जाता है। समालोचकजी लिखनेको तो लिखगये कि देवकी कंसके मामाकी लड़की थी और इसलिये कंस उसे बहन कहता था परन्तु पीछे से यह बात उन्हें भी खटकी ज़रूर है और इसलिये आप समालोचनाके पृष्ठ ११ पर लिखते हैं :—

> "देवकी कंसके मामाकी बेटी थी आजकल मामाकी बेटीको भी बहिन मानते हैं। शायद इस पर बाबू साहब यह कहसकते हैं पहिले मामाकी बेटी बहिन नहीं मानी जाती थी क्योंकि लोग मामाकी बेटीके साथ विवाह करतेथे और दक्षिणदेशमें अबभी करते है, परन्तु इस सन्देहको आराधनाकथाकोशके श्लोक अच्छी तरह दूर कर देते हैं साथमें बाबू साहबके खास गांव देवबंदमें जो आराधनाकथाकोश छपा है उससे भी यह संदेह साफ़ तौर से काफूर होजाता है"

इससे ज़ाहिर है कि समालोचकजी ने देवकीको यदुवंशसे पृथक करने और उसे भोजकवृष्टिकी पौत्री न माननेका अपना

अन्तिम आधार आराधनाकथाकोशके कुछ श्लोकों और उनके भाषापद्यानुवाद पर रक्खा है। आपके ये श्लोक इस प्रकार हैं:

अथेह मृत्तिकावत्यां पुर्यां देवकि[क] भूपतेः।
भार्यायाधनदेव्यास्तु देवकीं चारुका[क]न्यकाम्॥८५॥
प्रतिपन्नस्वभगिनीं[ग्रीन्द्रां] तां विवाहप्रयुक्तितः।
कंसो सौ वा[व]सुदेवाय कुरुवंशो[श्यो]द्भवां ददौ॥८६

ये दोनों जिस आराधना कथाकोश के श्लोक हैं वह उन्हीं नेमिदत्त ब्रह्मचारीका बनाया हुआ है जो नेमिपुराणके भी कर्ता हैं और जिन्होंने नेमिपुराणमें देवकीको न तो कुरुवंशमें उत्पन्न हुई लिखा और न इस बातका ही विधान किया कि कंसने उसे वैसेही बहन मान लिया था—वह उसके कुटुम्बकी बहन नहीं थी। परन्तु समालोचकजी उनके इन्हीं पद्यों परसे यह सिद्ध करना चाहते हैं कि देवकी कुरुवंशमें उत्पन्न हुई थी और कंस उसे वैसेही बहन करके मानता था। इसीसे आपने इन पद्योंका यह अर्थ किया है :—

"मृत्तिका पुरीके राजा देवकी [?] की रानी धनदेवी के एक देवकी नामकी सुन्दर कन्या थी। वह कुरुवंशमें उत्पन्न हुई थी। और कंस उसे बहिन करके मानता था। उसने वह कन्या वसुदेवको व्याहदी।"

परन्तु "वह कुरुवंश में उत्पन्न हुई थी और कंस उसे बहन करके मानता था" यह जिन दो विशेषण पदोंका अर्थ किया गया है उन्हें समालोचकजी ने ठीक तौर से समझा मालूम नहीं होता। आपने यह भी नहीं खयाल किया कि इन श्लोकों का पाठ कितना अशुद्ध हो रहा है और इसलिये मुझे उनका शुद्ध पाठ मालूम करके प्रस्तुत करना चाहिये-वैसे ही अशुद्ध रूप में आराधनाकथाकोशकी छपीहुई प्रति परसे नकल

करके उसे पाठकों के सामने रख दिया है। "देवकभूपतेः" की जगह "देवकिभूपतेः" पाठ देकर आपने देवकी के पिता का नाम 'देवकी' बतलाया है परन्तु वह 'देवक' है- देवकी नहीं हिन्दुओं के यहाँ भी देवकी के पिता का नाम 'देवक' दिया है और उसे कंसके पिता उग्रसेनका सगा भाई भी लिखा है; जैसा कि उनके महाभारतान्तर्गत हरिवंशपुराण के निम्न वाक्योंसे प्रकट है:—

आहुकस्य तु काश्यायां द्वौ पुत्रौ संबभूवतुः ॥ २६॥
देवकश्चोग्रसेनश्च देवपुत्रसमावुभौ।
देवकस्याभवन्पुत्राश्चत्वारस्त्रिदशोपमाः ॥ २७॥
देववानुपदेवश्च सुदेवो देवरक्षितः।
कुमार्यः सप्तचाप्यासन्वसुदेवाय ता ददौ ॥२८॥
देवकी शांतिदेवा च सुदेवा देवरक्षिता।
वृकदेव्युपदेवीच सुनाम्नीचैव सप्तमी ॥ २९ ॥
नवोग्रसेनस्य सुतास्तेषां कंसस्तु पूर्वजः।
न्यग्रोधश्चसुनामा च कंकः शंकुः सुभूमिपः ॥३० ॥

—३७ वां अध्याय।

और इस लिये देवक देवसेन का ही लघुरूप है। उसी लघु नाम से यहाँ उसका उल्लेख किया गया था जिसे समालोचकजी ने नहीं समझा और देवकी के पिता को भी देवकी बना दिया! "वासुदेवाय" पाठ भी अशुद्ध है, उसका शुद्ध रूप है "वसुदेवाय" तभी 'वसुदेव को' देवकी के दिये जाने का अर्थ बन सकता है अन्यथा, 'वासुदेवाय' पाठ से तो यह अर्थ हो जाता है कि देवकी 'वासुदेव' को वसुदेव

के पुत्र श्रीकृष्ण को—ब्याही गई, और यह कितना अनर्थकारी अर्थ है इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं । इसी तरह "प्रति-पन्नस्वभगिनीं" पाठ भी अशुद्ध है । श्लोक में छठा अक्षर गुरु और पहले तथा तीसरे चरण का सातवाँ अक्षर भी गुरु होता है * परन्तु यहाँ उक्त पहले चरण में ६ ठा और ७ वाँ दोनों ही अक्षर लघु पाये जाते हैं और इसलिये वे इस पदके अशुद्ध होने का खासा संदेह उत्पन्न करते हैं। लेखकके पुस्तकालयमें इस ग्रन्थकी एक जीर्ण प्रति सं० १७६५की लिखी हुई है, उसमें "प्रतिपन्नस्वभग्नीभ्रां" ऐसा पाठ पाया जाता है । इस पाठ में "भगिनी" की जगह "भग्नी" शब्दका जो प्रयोग है वह ठीक है और उससे उक्त दोनों अक्षर, छन्दः शास्त्रकी दृष्टिमें, गुरु हो जाते हैं परन्तु अन्तका 'भ्रां' अक्षर कुछ अशुद्ध जान पड़ता है और उसे अधिक अक्षर नहीं कहा जा सकता । क्योंकि उसे पृथक करके यदि "भग्नी" का "भग्नीं" पाठ माना जावे तो उससे छंद भंग हो जाता है—आठकी जगह सात ही अक्षर रह जाते हैं—इस लिये 'भग्नी' के बाद आठवाँ अक्षर पदकी विभक्तिको लिये हुए ज़रूर होना चाहिये । मालूम होता है वह अक्षर "न्द्रां" था, प्रति लेखक की कृपा से "भ्रां" बन गया है । और इसलिये उक्त पदका शुद्ध रूप "प्रतिपन्नस्वभग्नीन्द्रां" होना चाहिये, जिसका अर्थ होता है 'अपनी बहनों में इन्द्रा पद को प्राप्त'—अर्थात् , इन्द्राणी जैसी । नेमिदत्तने अपने 'नेमिपुराण में भी देवकी को 'सुरांगना' लिखा है जैसा कि ऊपर उद्धृत किये

---

* यथाः—"श्लोके षष्ठं गुरुज्ञेयं सर्वत्र लघु पंचमम् ।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः ॥ १० ॥
—श्रुतबोधः ।

हुए उसके पद्य नं० ८८ से प्रकट है। उसी बातको उन्होंने यहाँ पर इस पद्य के द्वारा व्यक्त किया है और उसे अपनी बहनों में इन्द्रा (शची) जैसी बतलाया है। वह कंस की वैसे ही मानी हुई—कल्पित की हुई—बहन थी, यह अर्थ नहीं बनता और न उसका कहीं से कोई समर्थन होता है। देवकी यदि कंसकी कल्पित भगिनी थी तो उससे यह लाज़मी नहीं आता कि वह कंस के भाई अतिमुक्तक की भी कल्पित भगिनी थी—क्योंकि अतिमुक्तकजी ने उसी वक्त जिनदीक्षा धारण करली थी जबकि कंसने मथुरा आकर अपने पिताको बंदिगृहमें डाला था—और इसलिये कंस ने यदि देवकीको अपनी बहन बनाया तो वह उसके बाद का कार्य हुआ। फिर अतिमुक्तक के भिक्षार्थ आने पर कंसकी स्त्री ने उनसे यह क्यों कहा कि 'यह तुम्हारी बहन (स्वसा अथवा अनुजा) देवकीका आनन्द वस्त्र है? इस वाक्य-प्रयोग से तो यही जाना जाता है कि अतिमुक्तकका देवकीके साथ भाई बहन का कौटुम्बिक सम्बन्ध था और इसी से जीवद्यशा निःसंकोच भाव से उस सम्बन्ध का उनके सामने उल्लेख कर सकी है अथवा उक्त वाक्य के कहने में उसकी प्रवृत्ति हो सकी है। यदि यह कहा जाय कि जिस प्रकार दूसरे के पुत्र को गोद (दत्तक) लेकर अपना पुत्र बना लिया जाता है और तब कुटुम्बवालों पर भी उस सम्बध की पाबन्दी होती है—वे उसके साथ गोद लेने वाले व्यक्ति के सगे पुत्र जैसा ही व्यवहार करते हैं—उसी प्रकार से कंस ने भी देवकी को अपनी बहन बना लिया था तो प्रथम तो इस प्रकार से बहन बनानेका कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता—हरिवंशपुराण(जिन-सेनकृत) और उत्तरपुराण जैसे प्राचीन ग्रन्थों से यही पाया जाता है कि देवकी उन राजा देवसेनकी पुत्री थीं जो कंस के पिता उग्रसेन के सगे भाई थे-दूसरे, यदि ऐसा मान भी लिया

जाय तो कंस की ऐसी दत्तकतुल्य बहन वसुदेवकी भतीजी ही हुई—उसमें तथा कंस की सगी बहन में सम्बंध की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं होता—और इसलिये भी यह नहीं कहा जासकता कि वसुदेव ने अपनी भतीजी से विवाह नहीं किया। ऐसा कहना मानो यह प्रतिपादन करना है कि 'एक भाई के दत्तकपुत्र से दूसरा भाई अपनी लड़की व्याह सकता है अथवा उस दत्तकपुत्र की लड़की से अपना या अपने पुत्र का विवाह कर सकता है'। क्योंकि वह दत्तक (गोद लिया हुआ) पुत्र उस भाई का असली पुत्र नहीं है किन्तु माना हुआ पुत्र है। परन्तु जहां तक हम समझते हैं समालोचकजी को यह भी इष्ट नहीं हो सकता, फिर नहीं मालूम उन्होंने क्यों--इतने स्पष्ट प्रमाणों की मौजदगी में भी--यह सब व्यर्थका आडम्बर रचा है? नादानी और बेसमझी के सिवाय इसका दूसरा और क्या कारण हो सकता है?

रही कुरुवंशमें उत्पन्न होनेकी बात, वहभी ठीक नहीं है। 'कुरुवंशोद्भवां' का शुद्ध रूप है 'कुरुवंश्योद्भवां' जिसका अर्थ होता है 'कुरुवंश्या स्त्रीमें उत्पन्न' (कुरुवंश्यायां उद्भवा या तां कुरुवंश्योद्भवां)—अर्थात्, देवकीकी माता धनदेवी कुरुवंश्या थी—कुरुवंशमें उत्पन्न हुई थी—नकि देवकी कुरुवंशमें उत्पन्न हुई थी। समालोचकजी ने भाषाके जो निम्न छंद उद्धृत किये हैं उनसेभी आपके इस सब कथनका कोई समर्थन नहीं होता:—

अब नगरी मृतिकावती, देवसेन महराज।
धनदेवी ताके तिया, कुरुवंशन सिरताज॥
ताके पुत्री देवकी, उपजी सुन्दर काय।
सो वसुदेव कुमार संग, दीनी कंस सु व्याह॥

यहाँ 'कुरुवंशन सिरताज,' यह स्पष्ट रूपसे 'धनदेवी' का

विशेषण जाना जाता है और इसको धनदेवीके अनन्तर प्रयुक्त करके कविने यह साफ सूचित किया है कि धनदेवी कुरुवंशमें उत्पन्न हुई स्त्रियोंमें प्रधान थी। बाकी देवकी कंसकी मानी हुई बहन थी, इस बातका यहाँ कोई उल्लेख ही नहीं है। इतने पर भी समालोचकजी इन भाषा छंदों परसे संदेह का काफूर होना मानते हैं और लिखते हैं :—

> "यह सब कोई जानता है कि वसुदेव यदुवंशी थे, और देवकी कुरुवंशकी थी। परन्तु बाबू साहबने तो उसे सगी भतीजी बना ही दी।"

परन्तु महाराज! सब लोग तो देवकीको कुरुवंशकी नहीं जानते, और न हरिवंशपुराण तथा उत्तरपुराण जैसे प्रचीन ग्रन्थोंसे ही उसका कुरुवंशी होना पाया जाता है—यह तो आपके ही दिमाग़ शरीफ़से नई बात उतरी अथवा आपकी ही नई ईजाद मालूम होती है। और आपकी ही कदाग्रह तथा बेहयाई का चश्मा चढ़ी हुई आँखें इस बातको देख सकती हैं कि बाबू साहब (लेखक) ने कहाँ अपने लेखमें देवकीको वसुदेव की 'सगी' भतीजी लिखदिया है, लेखमें दी हुई वंशावली परसे तो कोई भी नेत्रवान उसमें सगी भतीजीका दर्शन नहीं कर सकता। सच है 'हठग्राही मनुष्य युक्तिको खींच खाँचकर वहीं लेजाता है जहाँ पहलेसे उसकी मति ठहरी हुई होती है परन्तु जो लोग पक्षपात रहित होते हैं वे अपनी मतिको वहाँ ठहराते हैं जहाँतक युक्ति पहुँचती है'। इसीसे एक आचार्यमहाराजने, ऐसे हठ-ग्राहियोंकी बुद्धिपर खेद प्रकट करते हुए, लिखा है :—

"आग्रही बत! निनीषति युक्तिं यत्रतत्रमतिरस्य निविष्टा।
पक्षपातरहितस्य तु युक्तिर्यत्रतत्रमतिरेति निवेशम्॥"

हाँ, समालोचकजी की एक दूसरी, बिलकुल नई, ईजादका

उल्लेख करना तो रहही गया, और वह यह है कि उन्होंने, लेखक पर इस बातका *आक्षेप करते हुए कि उसने भाषाके छंदोबद्ध 'आराधना कथाकोश'के कथन पर जान बूझ कर ध्यान नहीं दिया, यह विधान किया है कि उसने उक्त ग्रंथका स्वाध्याय अवश्य किया होगा, क्योंकि वह उसके खास गाँव (?) देवबन्द का छपा हुआ है। और इस तरह पर यह घोषणाकी है कि जिस नगर या ग्राममें कोई ग्रंथ छपता है वहाँका प्रत्येक पढ़ा लिखा निवासी इस बातका जिम्मेवार है कि वह ग्रंथ उसने पढ़ लिया है और वह उसके सारे कथनको जानता है। और इसलिये बम्बई, कलकत्ता आदि सभी नगर ग्रामोंके पढ़ेलिखों को अपनी इस जिम्मेदारीके लिये सावधान हो जाना चाहिये! और यदि किसीको यह मालूम करनेकी जरूरत पड़े कि बम्बई में कौन कौन ग्रन्थ छपे हैं और उनमें क्या कुछ लिखा है तो वहाँके किसी एक ही पढ़ेलिखेको बुलाकर अथवा उससे मिल-कर सारा हाल मालूम कर लेना चाहिये! यह कितना भारी आविष्कार समालोचकजीने कर डाला है! और इससे पाठकों को कितना लाभ पहुंचेगा!! परन्तु खेद है लेखक तो कई बार अपने अनेक स्थानोंके मित्रोंका वहाँके छपे हुए ग्रंथोंकी बाबत कुछ हाल दर्याफ्त करके ही रह गया और उसे यही उत्तर मिला कि 'हमें उन ग्रन्थोंका कुछ हाल मालूम नहीं है।' शायद समा-लोचकजी ही एक ऐसे विचित्र व्यक्ति होंगे जिन्होंने कमसे कम

*यथाः—बाबू साहबके खास गाँव देवबन्दमें जो 'आरा-धनाकथाकोश' छपा है उससे भी यह सदेह साफ तौरसे काफूर होजाता है क्या बाबू साहबने अपने यहाँसे प्रकाशित हुए ग्रन्थोंका भी स्वाध्याय न किया होगा? किया अवश्य होगा परन्तु उन्हें तो जिस तिस तरह अपना मतलब बनाना है"।

देहलीसे, जहाँ आपका अक्सर निवास रहता है, प्रकाशित होने वाली सभी पुस्तकों तथा ग्रन्थोंको-परिचय, इच्छा, और संप्राप्ति आदिके न होते हुए भी-पढ़ा होगा और आपको उनका पूर्ण विषय भी कण्ठस्थ होगा! रही लेखककी ग्रंथोंके पढ़नेकी बात, यद्यपि उसका अधिकांश समय ग्रन्थोंके पढ़ने और उनमेंसे अनेक तत्वों तथा तथ्योंका अनुसंधान करने में ही व्यतीत होता है, फिर भी वह देववन्दसे प्रकाशित हुए ऐसे साधारण सभी ग्रन्थोंको तो क्या पढ़ता, स्वयं उसकी लायब्रेरीमें पचासों अच्छे ग्रंथ इस वक्त भी मौजूद हैं जिन्हें पूरी तौर पर अथवा कुछको अधूरी तौर पर भी पढ़ने देखने का अभी तक उसे अवसर नहीं मिल सका। इसलिये समालोचकजीका उक्त आक्षेप व्यर्थ है और वह उनके दुराग्रहको सूचित करता है।

यहाँ तकके इस सब कथनसे यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि देवकी न तो कुरुवंशमें उत्पन्न हुई थी, न कंसके मामाकी लड़की थी और न वैसे ही कंसद्वारा कल्पना की हुई बहन थी, बल्कि वह कंसके पिता उग्रसेनके सगे भाई अथवा कंसके सगे चचा देवसेनकी पुत्री थी—यदुवंशमें उत्पन्न हुई थी—और इसी लिये नृप भोजकवृष्टि (या नर वृष्णि) तथा भोजक-वृष्टिके भाई अंधकवृष्टि (वृष्णि) की पौत्री थी और उसे अंधकवृष्टिके पुत्र वसुदेवकी भतीजी समझना चाहिये। इसी देवकीके साथ वसुदेवका विवाह होने से साफ़ ज़ाहिर है कि उस वक्त एक कुटुम्बमें भी विवाह हो जाता था और उसके मार्गमें आज कल जैसी गोत्रोंकी परिकल्पना कोई बाधक नहीं थी। अग्रवाल जैसी समृद्ध जाति भी इन्हीं कौटुम्बिक विवाहोंका परिणाम है। उसके आदिपुरुष राजा अग्रसेनके सगे पोते पोतियों का—अथवा यों कहिये कि उसके एक पुत्रकी संततिका दूसरे पुत्रकी संततिके साथ—आपसमें विवाह हुआ था। आजकल

भी अग्रवाल अग्रवालोंमें ही विवाह करके अपने एकही वंशमें विवाहकी प्रथाको चरितार्थ कर रहे हैं और राजा अग्रसेनकी दृष्टिसे सब अग्रवाल उन्हींके एक गोत्री हैं। समालोचकजीने विरोधके लिये जिन प्रमाणोंको उपस्थित किया था उनमेंसे एकभी विरोधके लिये स्थिर नहीं रह सका; प्रत्युत इसके सभी लेखकके कथनकी अनुकूलतामें परिणत होगये और इस बातको जतला गये कि समालोचकजी सत्य पर पर्दा डालनेकी धुनमें समालोचना की हद्से कितने बाहर निकल गये—समालोचक के कर्तव्यसे कितने गिर गये—उन्होंने सत्यको छिपाने तथा असलियत पर पर्दा डालनेकी कितनी कोशिश की, कितना कोलाहल मचाया, कितना आडम्बर रचा और कितना पाखंड फैलाया परन्तु फिरभी वे उसमें सफल नहीं हो सके! साथही, उनके शास्त्रज्ञान और दंभविधानकी भी सारी क़लई खुलगई!! अस्तु।

यह तो हुई उदाहरणके प्रथम अंश—'देवकीसे विवाह'—के आक्षेपोंकी बात, अब उदाहरणके दूसरे अंश—'जरासे विवाह'—को लीजिये।

म्लेच्छों से विवाह।

लेखक ने लिखा था कि—"जरा किसी म्लेच्छराजाकी कन्या थी जिसने गंगा तट पर वसुदेवजी को परिभ्रमण करते हुए देखकर उनके साथ अपनी इस कन्या का पाणिग्रहण कर दिया था।" पं० दौलतरामजी ने, अपने हरिवंशपुराणमें, इस राजा को 'म्लेच्छखण्ड का राजा' बतलाया है और पं० गजाधरलालजी उसे 'भीलोंका राजा' सूचित करते हैं। वह राजा म्लेच्छखण्डका राजा हो या आर्यखण्डोद्भव म्लेच्छराजा, और चाहे उसे भीलोंका राजा कहिये, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि

वह आर्य तथा उच्चजाति का मनुष्य नहीं था। और इस लिये उसे अनार्य तथा म्लेच्छ कहना कुछ भी अनुचित नहीं होगा। म्लेच्छोंका आचार आम तौर पर हिंसामें रति, मांसभक्षण में प्रीति और जबरदस्ती दूसरोंकी धनसम्पत्तिका हरना, इत्यादिक होता है; जैसा कि श्रीजिनसेनाचार्यप्रणीत आदिपुराणके निम्नलिखित वाक्य से प्रकट है:—

म्लेच्छाचारो हि हिंसायां रतिर्मांसाशनेऽपि च।
बलात्परस्वहरणं निर्धूतत्वमिति स्मृतम् ॥ ४२-१८४ ॥

वसुदेवजी ने, यह सब कुछ जानते हुए भी, बिना किसी झिझक और रुकावट के बड़ी खुशी के साथ इस म्लेच्छ राजा को उक्त कन्या से विवाह किया और उनका यह विवाह भी उस समय कुछ अनुचित नहीं समझा गया। बल्कि उस समय और उससे पहले भी इस प्रकार के विवाहों का आम दस्तूर था। अच्छे अच्छे प्रतिष्ठित, उच्चकुलीन और उत्तमोत्तम पुरुषों ने म्लेच्छ राजाओं की कन्याओं से विवाह किया, जिनके उदाहरणोंसे जैन-साहित्य परिपूर्ण है।"

उदाहरणके इस अंश से प्रकट है कि लेखकने जितनी बार अपनी ओर से जरा के पिताका उल्लेख किया है वह "म्लेच्छराजा" पद के द्वारा किया है, जिसमें 'म्लेच्छ' विशेषण और 'राजा' विशेष्य है (म्लेच्छः राजाः म्लेच्छराजा) और उस का अर्थ होता है 'म्लेच्छ जाति विशिष्ट राजा— अर्थात् म्लेच्छ जातिका राजा, वह राजा जिसकी जाति म्लेच्छ है, न कि वह राजा जो आर्यजातिका होते हुए म्लेच्छों पर शासन करता है। परन्तु समालोचकजी ने दूसरे विद्वानों के अवतरणोंको लेकर और उन्हें भी न समझ कर उनके शब्द-छल से लेखक पर यह आपत्ति की है कि उसने म्लेच्छखंडों पर

शासन करने वाले आर्य जाति के चक्रवर्ती राजाओं को भी म्लेच्छ ठहरा दिया है! आप लिखते हैं:—

> "खूब [!] क्या मलेछों का राजा भी मलेछ ही होगा? और भीलोंका राजा भी भील ही हो, इसका क्या प्रमाण? यदि कोई हिन्दुस्तान का राजा हो तो हिन्दू हो हो सकता है क्या? और जरमनका जरमनी तथा मुसलमानोंका मुसलमान ही हो सकता है क्या? यदि ऐसा ही नियम होता तो चक्रवर्ती जोकि मलेछखण्डके भी राजा होते हैं। लेखक महोदयके विचारानुसार वे भी मलेछ कहे जाने चाहियें। इस नियमानुसार पूज्य तीर्थंकर श्री शांतिनाथ कुन्थुनाथ, अरहनाथ जोकि चक्रवर्ती थे, लेखक महोदय की सम्मति अनुसार वे भी इसी कोटिमें आसकेंगे? अतः इसका कोई नियम नहीं है कि किसी जाति या देशका राजा भी उसी जाति का हो अतः इस लेखसे यह सिद्ध होता है कि जरा कन्या भील जाति की नहीं थी।"

पाठकजन देखा! समालोचकजी कितनी भारी समझ और अनन्य साधारण बुद्धिके आदमी हैं! उन्होंने लेखकके कथनकी कितनी बढ़िया समालोचना कर डाली!! और कितनी आसानी से यह सिद्धकर दिखाया कि 'जरा' भील जातिकी कन्या नहीं थी!!! हम पूछते हैं यह कौन कहता है और किसने कहाँ पर विधान किया कि म्लेच्छोंका राजा म्लेछही होता है, भीलोंका राजा भीलही होता है, हिन्दुस्तानका राजा हिन्दूही होता है और मुसलमानोंका राजा मुसलमानही हुआ करता है? फिर क्या अपनी ही कल्पनाकी समालोचना करके आप खुश होतेहैं? क्या जिस राजाकी बाबत यह कहा जाता हो कि यह 'हिन्दूराजा'

है आप उसे 'मुसलमान' समझते हैं ? और जिसे 'मुसलमान राजा' के नामसे पुकारा अथवा उल्लेखित किया जाता हो उसे 'हिन्दू' खयाल करते हैं ? यदि नहीं तो फिर एक 'म्लेच्छ राजा' को म्लेच्छ न मानकर आप 'आर्य' कैसे कह सकते हैं ? 'हिन्दू' और 'मुसलमान' जिस प्रकार जातिवाचक शब्द हैं उसी प्रकार से 'म्लेच्छ' भी एक जातिवाचक शब्द है। और ये तीनों ही राजा शब्दके पूर्ववर्ती होने पर अपने अपने उत्तरवर्ती राजाकी जातिको सूचित करते हैं। स्वयं श्रीजिनसेनाचार्य ने, अपने हरिवंशपुराणमें, इस राजाको स्पष्ट रूपसे 'म्लेच्छराज' लिखा है। यथा :—

> चंपा-सरसि, संप्राप्य तस्यां सोमात्यदेहजाम् ॥ ४ ॥
> तोयक्रीडा रतस्तत्र स हृतः सूर्पकाऽरिणा ।
> विमुक्तश्च पपातासौ भागीरथ्यां मनोरथी ॥ ५ ॥
> पर्य्यटन्नटवीं तत्र म्लेच्छराजेन वीक्षितः ।
> परिणीय सुतां तस्य जराख्यां तत्र चावसत् ॥ ६ ॥
> जरत्कुमारमुत्पाद्य तस्यामुन्नतविक्रमः ।

इन पद्योंमें यह बतलाया गया है कि—'चंपापुरीमें वहाँके मंत्रीकी पुत्रीसे विवाह करके, एकदिन वसुदेव चंपा नगरीके सरोवरमें जलक्रीडा कर रहे थे, उनका शत्रु सूर्पक उन्हें हर कर लेगया और ऊपरसे छोड़दिया। वे भागीरथी (गंगा) नदी में गिरे और उसमें से निकल कर एक बनमें घूमने लगे। वहां एक म्लेच्छ राजासे उनका परिचय हुआ, जिसकी 'जरा' नाम की कन्यासे विवाह करके वे वहाँ रहने लगे और उस स्त्री से उन्होंने 'जरत्कुमार' नामका पुत्र उत्पन्न किया।'

'म्लेच्छराज'से श्रीजिनसेनाचार्यका अभिप्राय 'म्लेच्छजाति

विशिष्ट राजा'का है, यह बात उनके इसी ग्रन्थके दूसरे उल्लेखों से भी पाई जाती है। यथा :—

म्लेच्छराजसहस्राणि वीक्ष्य पूर्ववरूथिनीम्।
क्षुभितान्यभिगम्याशु योधयामासुरश्रमात् ॥ ३० ॥
ततः क्रुद्धो युधि म्लेच्छैरयोध्यो दंडनायकः।
युध्वा निर्धूय तानाशु दध्रे नामार्थसंगतम् ॥ ३१ ॥
भयान्म्लेच्छास्ततो याताः शरणं कुलदेवताः।
घोरान्मेघमुखान्नागान्दर्भशय्याधिशायिनः ॥ ३२ ॥

* * *

ततो मेघमुखैर्म्लेच्छाः प्रोक्ताः संहृतवृष्टिभिः।
चक्रिणां शरणं जग्मुरादाय वरकन्यकाः ॥ ३८ ॥

—११वाँ सर्ग।

यहाँ, उत्तर भारतखण्ड के म्लेच्छोंके साथ भरत चक्रवर्ती के सेनापति जयकुमारके युद्धका वर्णन करते हुए, पहले पद्यमें जिन सहस्रों म्लेच्छ राजाओं का "म्लेच्छराजसहस्राणि" पदके द्वारा उल्लेख किया है उन्हें ही अगले पद्योंमें "म्लेच्छैः" और "म्लेच्छाः" पदों के द्वारा स्पष्ट रूप से 'म्लेच्छ' सूचित किया है। और इससे साफ़ ज़ाहिर है कि 'म्लेच्छ राजा' का अर्थ म्लेच्छ जातिके राजासे है। और इस लिये जराका पिता म्लेच्छ था। पं० दौलतराम जी ने इस राजाको जो *'म्लेच्छ खण्डका राजा' बतलाया है उसका अभिप्राय 'म्लेच्छखंडोद्भव' (म्लेच्छखण्डमें उत्पन्न हुए) राजासे है—म्लेच्छखण्डों को

*यथा :—"सो गंगा के तीर एक म्लेच्छखंडका राजा तानें देखा। सो अपनी जरा नामा पुत्री वसुदेव को परनाई।"

जीत कर उन पर अपना आधिपत्य रखने वाले चक्रवर्ती राजा से नहीं । जान पड़ता है 'म्लेच्छराज' शब्द परसे ही उन्होंने उसे म्लेच्छखण्ड का राजा समझ लिया है । और पं० गजाधर लाल जी ने जो उसे †'भीलोंका राजा' लिखा है उसका आशय भील जातिके राजा (भिल्लराज) से-सर्दार से—है जो म्लेच्छोंकी एक ‡जाति है—भीलों पर शासन करने वाले किसी आर्य राजासे नहीं । जरासे उत्पन्न हुए जरत्कुमारका आचरण एक बार भील जैसा होगया था, इसी परसे शायद उन्होंने जराको भील कन्या माना है । आप 'पद्मावतीपुरवाल' (वर्ष २रा अंक ५वाँ) में प्रकाशित अपने उसी विचार लेखमें लिखते भी हैं :—

"वास्तवमें उस समय भी संतान पर मातृपक्षका संस्कार पहुँचता था । आपने हरिवंशपुराणमें पढा होगा कि जिस समय कृष्ण की मृत्युकी बात मुनिराजके मुखसे सुन जरत्कुमार बनमें रहने लगा था उस समय उसके आचार विचार भील सरीखे होगयेथे, वह शिकारी होगया था । पीछे युधिष्ठिर आदि के समझानेसे उसने भीलके वेषका परित्याग किया था ।"

इससे स्पष्ट है कि पं गजाधरलालजी ने जराके पिताको आर्य जातिका राजा नहीं समझा बल्कि 'भील' समझा है और

---

†यथा :—" नदीको पार कर कुमार किसी वनमें पहुँचे वहाँ पर घूमते हुए उन्हें किसी भीलोंके राजाने देखा उनके सौंदर्य पर मुग्ध हो वह बड़े आदरसे उन्हें अपने घर लेगया और उसने अपनी जरा नाम की कन्या प्रदान की ।"

‡यथा :—' भिल्लः, म्लेच्छजातिविशेषः । भील इति भाषा । यथा हेमचंद्रे—माला भिल्लाः किरातास्र सर्वेऽपि म्लेच्छजातयः।

—इति शब्दकल्पद्रुमः।

इस लिये उनके 'भीलों का राजा' शब्दोंके छलको लेकर समालोचक जीने जो आपत्ति की है वह बिलकुल निःसार है। पं० गजाधरलाल जी तो अपने उक्त लेखमें स्वयं स्वीकार करते हैं कि उस समय म्लेच्छ किंवा भीलों आदि की कन्यासे भी विवाह होता था। यथा :—

"उस समय राजा लोग यदि म्लेच्छ किंवा भीलआदि की कन्याओंसे भी पाणिग्रहण कर लेते थे तथापि उनके समान स्वयं म्लेच्छ तथा धर्म कर्मसे विमुख न बन जातेथे किन्तु उन कन्याओं को अपने पथ पर ले आते थे। और वे प्रायः पतिद्वारा स्वीकृत धर्मका ही पालन करती थीं। इस लिये वसुदेवने जो जरा आदि म्लेच्छ कन्याओंके साथ विवाह किया था उसमें उनके धार्मिक रीतिरिवाजोंमें ज़रा भी फर्क न पड़ा था।"

इस उल्लेख द्वारा पं० गजाधरलाल जी ने जरा को साफ तौरसे ' म्लेच्छ कन्या ' भी स्वीकार किया है और उसके बाद ' आदि ' शब्दका प्रयोग करके यह भी घोषित कियाहै कि वसुदेवने ' जरा' के सिवाय और भी म्लेछ कन्याओंसे विवाह किया था। समालोचकजी के पास यदि लज्जादेवी हो तो उन्हें, इन सब उल्लेखोंको देखकर, उसके आँचलमें अपना मुंह छुपा लेना चाहिये और फिर कभी यह दिखलानेका साहस न करना चाहिये कि पंडितजी के उक्त शब्दों का वाच्य ' भील ' राजा से भिन्न कोई ' आर्य' राजा है।

मालूम होताहै समालोचक जी को इस खयालने बड़ा परेशान किया है कि भील लोग बड़े काले, डरावने और बदसूरत होते हैं, उनकी कन्यासे वसुदेव जैसे रूपवान और अनेक रूपवती स्त्रियों के पति पुरुष क्यों विवाह करते। और इसीसे

आप यहाँ तक कल्पना करनेके लिये मजबूर हुए हैं कि यदि वह कन्या (जरा) भीलोंने ही वसुदेव को दी हो तो वह जरूर किसी दूसरी जातिके राजाकी लड़की होगी और भील उसे छीन लाये होंगे। यथा :—

> "...भील लोग जंगलोंमें रहने वाले जिनके विषयमें शास्त्रोंमें लिखाहै कि वे बड़े काले, बदसूरत डरावने होते हैं। तो वसुदेवजी ऐसे पराक्रमी और सुन्दर कामदेवके समान जिनके रूपके सामने देवाङ्गनायें भी लज्जित होजावें, ऐसी राजाओंकी अनेक रूपवती और गुणवती कन्याओंके साथ विवाह किया। उन को क्या ज़रूरत थी कि ऐसे बदसूरत भीलकी लड़कीके साथ शादी करते। हाँ यह ज़रूर होसकता है कि भील किसी राजाकी लड़कीको छीन लाये हों और उसे सुन्दर खूबसूरत समझ कर वसुदेवको देदी हो। इससे सिद्ध है किवह भीलकी कन्या तो थी नहीं"।

परन्तु सभी भील बड़े काले, बदसूरत और डरावने होते हैं, यह कौनसे शास्त्रमें लिखा है और कहाँसे आपने यह नियम निर्धारित किया है कि भीलोंकी सभी कन्याएँ काली, बदसूरत तथा डरावनी ही होती हैं ? क्या रूप और कुलके साथ कोई अविनाभाव सम्बंध है ? हम तो यह देखते हैं कि अच्छे अच्छे उच्चकुलोंमें बदसूरत भी पैदा होते हैं और नीचातिनीच कुलों में खूबसूरत बच्चे भी जन्म लेते हैं। कुलका सुभग, दुर्भग और सौभाग्यके साथ कोई नियम नहीं है। इसी बातको श्रीजिन-सेनाचार्यने वसुदेवके मुखसे, रोहिणीके स्वयंवरके अवसर पर कहलाया है। यथा :—

कश्चिन्महाकुलीनोऽपि दुर्भगः सुभगोऽपरः।

कुलसौभाग्ययोर्नेह प्रतिबन्धोस्ति कश्चनः ॥ ५५ ॥

—हरिवंशपुराण, ३१वाँ सर्ग।

पं गजाधरलालजी ने इस पद्यका अनुवाद यों किया है :—

"कोई कोई महाकुलीन होने पर भी बदसूरत होताहै दूसरा अकुलीन होनेपर भी बड़ा सुन्दर होता है इस लिये कुलीन और सौभाग्यकी आपसमें कोई व्याप्ति नहीं अर्थात् जो कुलीन हो वह सुन्दर ही हो और अकुलीन बदसूरत ही हो यह कोई नियम नहीं ॥५५॥"

इसके सिवाय, जैनशास्त्रोंमें भीलकन्याओंसे विवाहके स्पष्ट उदाहरण भी पाये जाते हैं, जिनमें से एक उदाहरण राजा उपश्रेणिक का लीजिये। ये राजा श्रेणिकके पिता थे। इन्हें एक बार किसी दुष्ट अश्वने लेजाकर भीलोंकी पल्लीमें पटक दिया था। उस पल्लीके भील राजाने जब इन्हें दुःखितावस्थामें देखा तो वह इन्हें अपने घर लेगया और उसने दवाई भोजन पानादि द्वारा सब तरहसे इनका उपचार किया। वहाँ ये उसकी 'तिलकसुन्दरी' नामकी पुत्री पर आसक्त हो गये और उसके लिये इन्होंने याचना की। भील राजाने उपश्रेणिकसे अपनी पुत्रीके पुत्रको राज्य दिये जानेका वचन लेकर उसका विवाह उनके साथ कर दिया और फिर उन्हें राजगृह पहुँचा दिया। यथाः—

उपश्रेणिको(क?) वैरिनृपसोमदेवप्रेषितदुष्टाऽश्वेनोपश्रेणिको नीत्वा भिल्लपल्यां क्षिप्तो दुःखितो भिल्लराजेन दृष्टोगृहमानीत उपचरितः। तत्सुतां तिलकसुंदरीमीक्षित्वा तां तं ययाचे। एतस्या सुतं राजानं करिष्यामीति भाषां नीत्वा परिणाय्य तेन राजगृहं प्रापितः।

—गद्य श्रेणिकचरित्र, (देहलीके नये मंदिरकी पुरानी जीर्ण प्रति)।

इसी भील कन्यासे 'चिलातीय' नामका पुत्र उत्पन्न हुआथा, जिसे 'चिलाति पुत्र' भी कहते हैं। प्रतिज्ञानुसार इसीको राज्य दिया गया और इसने अन्तको जिन दीक्षा भी धारण की थी।

इस लिये, समालोचकजीका यह कोरा भ्रम है कि सभी भील कन्याएँ काली, बदसूरत तथा डरावनी होती हैं अथवा उनके साथ उच्चकुलीनोंका विवाह नहीं होता था। परन्तु जरा भील कन्या थी, यह बात जिनसेनाचार्यके उक्त वाक्योंको लेकर निश्चित रूपसे नहीं कही जासकती। उन परसे जराके सिर्फ म्लेच्छ कन्या होनेका ही पता चलता है, म्लेच्छोंकी किसी जाति विशेषका नहीं। होसकता है कि पं० गजाधर-लाल के कथनानुसार वह भील कन्या ही हो परन्तु पं० दौलतरामके कथनानुसार वह म्लेच्छखंडके किसी म्लेच्छराजा की कन्या मालूम नहीं होती; क्योंकि जिनसेनाचार्यने साफ़ तौरसे वसुदेवके चंपापुरीसे उठाये जाने और भागीरथी गंगा नदीमें पटके जानेका उल्लेख किया है और यह वही गंगा नदी है जो युक्तप्रांत और बंगालमें को बहती है—वह महागंगा नहीं है जो जैनशास्त्रानुसार आर्यखण्डका म्लेच्छखण्डसे अथवा, उत्तरभारतमें, म्लेच्छखण्डका म्लेच्छखंडसे विभाग करती है—इसका 'भागीरथी' नाम ही इसे उस महागंगासे पृथक् करताहै, वह 'अकृत्रिम' और यह 'भागीरथ द्वारा लाई हुई है (भगीरथेन सानीता तेन भागीरथी स्मृता)। चंपा नगरी भी इसके पास है। अतः 'जरा' इसी भागीरथी गंगाके किनारेके किसी म्लेच्छ राजाकी पुत्री थी और इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि पहले म्लेच्छखण्डोंके म्लेच्छोंकी कन्याओंसे ही नहीं किंतु यहांके आर्य-खण्डोद्भव म्लेच्छोंकी कन्याओंसे भी विवाह होताथा। उपश्रेणिक का भील कन्यासे विवाह भी उसे पुष्ट करता है। इसके सिवाय यह बात इतिहास प्रसिद्ध है कि सम्राट चंद्रगुप्त मौर्यने सीरिया

के म्लेच्छराजा 'सिल्यूकस' की कन्यासे विवाह किया था। ये सम्राट् चंद्रगुप्त भद्रबाहु श्रुतकेवलीके शिष्य थे, इन्होंने जैनमुनि दीक्षा भी धारण की थी, जिसका उल्लेख कितने ही जैन शास्त्रों तथा शिलालेखों में पाया जाता है। और जैनियोंकी क्षेत्रगणना के अनुसार सीरिया भी आर्यखण्डका ही एक प्रदेश है। ऐसी हालत में यह बात और भी निर्विवाद तथा निःसन्देह हो जाती है कि पहले आर्यखण्ड के म्लेच्छों के साथ भी आर्यों अथवा उच्च कुलीनों का विवाह सम्बंध होता था।

हमारे समालोचकजी का चित्त 'जरा' के विषय में बहुत ही डाँवाडोल मालूम होता है—वे स्वयं इस बात का कोई निश्चय नहीं कर सके कि जरा किस की पुत्री थी—कभी उन का यह खयाल होता है कि जरा का पिता म्लेच्छ या भील न होकर म्लेच्छों अथवा भीलों पर शासन करने वाला कोई आर्य राजा होगा और उसीने अपनी कन्या वसुदेवको दी होगी; कभी वे सोचते हैं कि यह कन्या वसुदेवको दी तो होगी भील ने ही परन्तु वह कहीं से उसे छीन लाया होगा—उसकी वह अपनी कन्या नहीं होगी-; और फिर कभी उनके चित्त में यह खयाल भी चक्कर लगाता है कि शायद जरा हो तो म्लेच्छ-कन्या ही, परन्तु वह क्षेत्र म्लेच्छ की—म्लेच्छखंड के म्लेछ की—कन्या होगी, उसका कुलाचार बुरा नहीं होगा अथवा उसके आचरण में कोई नीचता नहीं होगी! खेद है कि ऐसे अनिश्चित और संदिग्ध चित्तवृत्ति वाले व्यक्ति भी सुनिश्चित बातों की समालोचना करके उन पर आक्षेप करने के लिये तय्यार हो जाते हैं और उन्हें मिथ्या तक कह डालनेकी धृष्टता कर बैठते हैं! अस्तु; समालोचकजी, उक्त अवतरण के बाद, अपने खयालों की इसी उधेड़बुन में लिखते हैं:—

"यदि थोड़ी देर के लिये यह मान लिया जाये कि

किसी मलेच्छ की ही कन्या होगी तो मलेच्छ भी कितने ही प्रकारके शास्त्रोंमें कहे हैं। जिनमें एक क्षेत्र मलेच्छ भी हैं जो कि देश अपेक्षा मलेच्छ कहाते हैं। लेकिन कुलाचार बुरा ही होता है ऐसा नियम नहीं। जैसे पंजाब में रहने वाले हरएक कौम के पंजाबी कहाते हैं, और बंगाल में रहने वालों को बंगाली तथा मद्रास में रहने वालों को मद्रासी कहते हैं किन्तु उन सब का आचरण एकसा नहीं होता। इन देशों में सब ही ऊँचनीचे जातियों के मनुष्य रहते हैं फिर यह कहना कि अमुक मनुष्य एक मद्रासी या पंजाबी लड़की के साथ शादी कर लाया, यदि उसी की जाति की ऊँच खानदानकी लड़की हो तो क्या हर्ज है। इसलिये बाबू साहब जो लिखते हैं कि वह कन्या नीच थी यह बात सिद्ध नहीं हो सकती नीच हम तब ही मान सकते हैं जबकि कन्याके जीवनचरित्रमें कुछ नीचता दिखलाईहो।"

अपने इन वाक्यों द्वारा समालोचकजी ने यह सूचित किया है कि वे म्लेच्छ खंडों (म्लेच्छ क्षेत्रों) को पंजाब, बंगाल तथा मद्रास जैसी स्थितिके देश समझते हैं, उनमें सबही ऊँच नीच जातियोंके आर्य अनार्य मनुष्योंका निवास मानते हैं और यह जानते हैं कि वहाँ ऐसे लोग भी रहते हैं जिनका कुलाचार बुरा नहीं है। इसी लिये संभव है कि वसुदेवजी वहीं से अपनी ही जातिकी और किसी ऊँचे वंशकी यह कन्या (जरा) विवाह कर ले आए हों। परन्तु समालोचकजीका यह कोरा भ्रम है और जैनशास्त्रोंसे उनकी अनभिज्ञताको प्रकट करता है। वसुदेव 'जरा' को किसी म्लेच्छ-खंडसे विवाह कर नहीं लाए, बल्कि वह चंपापुरीके निकट प्रदेशमें भागीरथी गंगाके आसपास रहने वाले किसी म्लेच्छ राजाकी कन्या थी, यह बाततो ऊपर श्रीजिन-

सेनाचार्यके वाक्योंसे सिद्ध की जा चुकी है। अब मैं इस भ्रमको भी दूरकर देना चाहता हूँ कि जैनियोंके द्वारा माने हुए *म्लेच्छ खण्डोंमें आर्य जनताका भी निवास है :—

श्रीअमृतचन्द्राचार्य, तत्वार्थसारमें, मनुष्योंके आर्य और म्लेच्छ ऐसे दो भेदोंका वर्णन करते हुए, लिखते हैं :—

आर्यखण्डोद्भवा आर्या म्लेच्छाः केचिच्छकादयः।
म्लेच्छखण्डोद्भवा म्लेच्छा अन्तर्द्वीपजा अपि॥२१२॥

अर्थात्—आर्य खण्डमें जो लोग उत्पन्न होते हैं वे 'आर्य' कहलाते हैं परन्तु उनमें जो कुछ शकादिक (+शक, यवन, शवर पुलिन्दादिक) लोग होते हैं वे म्लेच्छ कहे जाते हैं और जो लोग म्लेच्छखण्डोंमें तथा अन्तर्द्वीपोंमें उत्पन्न होते हैं उन सबको 'म्लेच्छ' समझना चाहिये।

इससे प्रकट है कि आर्य खण्डमें जो मनुष्य उत्पन्न होते हैं वे तो आर्य और म्लेच्छ दोनों प्रकारके होते हैं, परन्तु म्लेच्छ-खंण्डोंमें एकही प्रकारके मनुष्य होते हैं और वे म्लेच्छ ही होते हैं। भावार्थ, म्लेच्छोंके मूल भेद तीन हैं १ आर्यखण्डोद्भव, २ म्लेच्छखण्डोद्भव ×, ३ अन्तर्द्वीपज और आर्योंका मूलभेद एक आर्यखण्डोद्भव ही है। जब यह बात है तब म्लेच्छखंण्डोंमें आर्य राजाओंका होना और उनकी कन्याओंसे चक्रवर्ती आदिका

---

*आधुनिक भूगोलवादियोंको इन म्लेच्छ खण्डोंका अभी तक कोई पता नहीं चला। अब तक जितनी पृथ्वीकी खोज हुई है वह सब, जैनियोंकी क्षेत्र गणनाके अनुसार अथवा उनके मापकी दृष्टिसे, आर्य खण्डके ही भीतर आ जाती है।

+यथा :—"शकयवनशवरपुलिंदादयः म्लेच्छाः"

×इन पहले दो भेदोंका नाम 'कर्मभूमिज' भी है।

विवाह करना अथवा वसुदेवका वहाँसे अपनी ही जातिकी कन्याका ले आना कैसे बन सकता है? कदापि नहीं। और इस लिये यह समझना चाहिये कि जिन लोगोंने—चाहे वे कोई भी क्यों न हों—म्लेच्छ खंडोंकी कन्याओंसे विवाह किया है उन्होंने म्लेच्छोंकी म्लेच्छ कन्याओंसे विवाह किया है। म्लेच्छत्वकी दृष्टिसे कर्मभूमिके सभी म्लेच्छ समान हैं और उनका प्रायः वही समान आचार है जिसका उल्लेख भगवज्जिनसेनाचार्यने अपने उस पद्यमें किया है जो ऊपर उद्धृत किये हुए उदाहरणांश में दिया हुआ है। समालोचकजीको वह म्लेच्छाचार देखकर बहुतही क्षोभ हुआ मालूम होता है। आपने जराके पिताको किसी तरह पर उस म्लेच्छाचारसे सुरक्षित रखनेके लिये जो प्रपंच रचा है उसे देखकर बड़ा ही आश्चर्य तथा खेद होता है! आप सबसे पहले लेखक पर इस बातका आक्षेप करते हैं कि उसने उक्त पद्यके आगे पीछेके दोचार श्लोकोंको लिखकर यह नहीं दिखलाया कि उसमें कैसे म्लेच्छोंका आचार दियाहुआ है। परन्तु स्वयं उन श्लोकोंको उद्धृत करके और सबका अर्थ देकर भी आप उक्त पद्यके प्रतिपाद्यविषय अथवा अर्थ-संबंधमें किसी भी विशेषताका उल्लेख करनेकेलिये समर्थ नहीं होसके-यह नहीं बतला सके कि वह—हिंसामें रति, मांसभक्षणमें प्रीति और जबरदस्ती दूसरोंकी धनसम्पत्तिका हरना, इत्यादि—म्लेच्छों का प्रायः साधारण आचरण न होकर अमुक जातिके म्लेच्छोंका आचार है। और न यह ही दिखलासके कि लेखकके उद्धृत किये हुए उक्त पद्यका अर्थ किसी दूसरे पद्य पर अवलम्बित है, जिसकी वजहसे उसदूसरे पद्यको भी उद्धृत करना जरूरी था और उसे उद्धृत न करनेसे उसके अर्थमें अमुक बाधा आगई। वास्तवमें वह अपने विषयका एक स्वतंत्र पद्य है और उसमें 'म्लेच्छाचारो हि' और 'इतिस्मृतम्' ये शब्द साफ

बतला रहेहैं कि उसमें 'हिंसायां रतिः' (हिंसामें रति) आदि रूपसे जिस आचारका कथन है वह निश्चयसे म्लेच्छाचार है— म्लेच्छोंका सर्व सामान्याचार है। 'इतिस्मृतम्' शब्दोंका अर्थ होता है ऐसा कहा गया, प्रतिपादन किया गया अथवा स्मृति शास्त्र द्वारा विधान किया गया। हाँ, अगले पद्यका अर्थ इस पद्य पर अवलम्बित जरूर है, और वह अगला पद्य जिसे समालोचक जी ने भी उद्धृत किया है इस प्रकार है :—

सोऽस्त्यमीषां च यद्वेदशास्त्रार्थमधमद्विजाः।
तादृशं बहुमन्यन्ते जातिवादावलेपतः ॥ ४२-१८५

इस पद्यमें बतलाया गया है कि 'वह (पूर्व पद्यमें कहा हुआ) म्लेच्छाचार इन (अक्षर म्लेच्छों) में भी पाया जाताहै, क्योंकि ये अधमद्विज अपनी जातिके घमंडमें आकर वेदशास्त्रों के अर्थको उस रूपमें बहुत मानते हैं जो उक्त म्लेच्छाचारका प्रतिपादक है।' और इस तरह पर जो लोग वेदार्थ का सहारा लेकर यज्ञों तथा देवताओं की बलिके नामसे बेचारे मूक पशुओं की घोर हिंसा करते तथा मांस खाते हैं उनके उस आचारको म्लेच्छाचारकी उपमा दी गई है और उन्हें कथंचित् *अक्षर म्लेच्छ ठहराया गया है। इससे अधिक इस कथनका ग्रन्थमें कोई दूसरा प्रयोजन नहीं है। इस पद्यके "सोऽस्त्यमीषांच" शब्द साफ़ बतला रहे हैं कि इससे पहिले म्लेच्छोंके सर्वसाधारण आचारका उल्लेख किया गया है और उसी म्लेच्छाचार से इन अधर्म द्विजोंके आचार की तुलना की गईहै—न कि इन्हीं का उक्त पद्यमें आचार बतलाया गया है। इसी प्रकरण के एक

*ऐसे लोगोंको, किसी भी रूपमें उनकी जातिको सूचित किये बिना, केवल म्लेच्छ नामसे उल्लेखित नहीं किया जाता।

दूसरे पद्यमें भी इन लोगों के आचारको म्लेच्छाचारकी उपमा दी गई है, लिखा है कि 'तुम निर्व्रत हो (अहिंसादिव्रतों के पालनसे रहित हो), निर्नमस्कार हो, निर्दय हो, पशुघाती हो और (इसी तरह के और भी) म्लेच्छाचार में परायण हो, तुम्हें धार्मिक द्विज नहीं कह सकते। यथाः—

निर्व्रता निर्नमस्कारा निर्घृणाः पशुघातिनः ।
म्लेच्छाचारपरा यूयं न स्थाने धार्मिकद्विजाः ॥ १६० ॥

इससे भी 'हिंसा में रति' आदि म्लेच्छों के साधारण आचारका पता चलता है। परन्तु इतने पर भी समालोचकजी लेखक की इस बात को स्वीकार करते हुए कि "अच्छे अच्छे प्रतिष्ठित, उच्चकुलीन और उत्तमोत्तम पुरुषों ने म्लेच्छराजाओं की कन्याओं से विवाह किया है" लिखते हैं:-

"ठीक है हम भी इस बातको मानते हैं कि चक्रवर्ती म्लेच्छखंडके राजाओं की कन्याओंसे विवाह कर लाते थे लेकिन वे क्षेत्रकी अपेक्षा से म्लेच्छ राजा कहाते थे। यह बात नहीं है कि उनके आचरण भी नीच हों या वे माँसखोर व शराबखोर हों अथवा आपके लिखे अनुसार हिंसामें रति माँसभक्षण में प्रीति रखने वाले और जबरदस्ती दूसरोंका धन हरण करने वाले हों। बाबू साहब आपकी लिखी हुई यह बातें उन म्लेच्छ राजाओं में कभी नहीं थीं। आपने जो म्लेच्छों के आचरण संबन्धी श्लोक दिया है वह केवल जनतामें भ्रम फैलाने के लिये ऊपर नीचे का संबन्ध छोड़कर दिया है"।

इसके बाद म्लेच्छोंके इस आचार की कुछ सफाई पेश करके, आप फिर लिखते हैं:—

"उन म्लेच्छोंमें हिंसा माँसभक्षण आदि की प्रवृत्ति सर्वथा नहीं थी।"

"बहुतसे लोग जो म्लेच्छोंको नीच और कदाचरणी समझ रहे हैं उनकी वह समझ बिलकुल मिथ्या है।"

"इन म्लेच्छ राजाओं को नीच हिंसक मांसखोर आदि कहना सर्वथा मिथ्या और शास्त्र विरुद्ध है।"

पाठक जब, देखा! समालोचकजीने म्लेच्छखण्डके म्लेच्छों को किस टाइपके म्लेच्छ समझा है। कैसी विचित्र सृष्टिका अनुसंधान किया है! आपको तो शायद स्वप्नमें भी उसका कभी खयाल न आया हो। अच्छा होता -यदि समालोचकजी उन म्लेच्छोंका एक सर्वांगपूर्ण लक्षण भी दे देते। समझमें नहीं आता जब वे लोग हिंसा नहीं करते, माँस नहीं खाते, शराब नहीं पीते, जबरदस्ती दूसरोंका धन नहीं हरते, अन्याय नहीं करते; ये सब बातें उनमें कभी थीं नहीं, वे इनकी प्रवृत्तिसे सर्वथा रहित हैं और साथही नीच तथा कदाचरणी भी नहीं हैं, तो फिर उन्हें 'म्लेच्छ' क्यों कहा गया? उनकी पवित्र भूमिको 'म्लेच्छखण्ड'की संज्ञा क्यों दीगई? क्या उनसे किसी आचार्य का कोई अपराध बनगयाथा या वैसेही किसी आचार्यका सिर फिरगया था जो ऐसे हिंसादि पापोंसे अस्पृष्ट पूज्य मनुष्योंको भी 'म्लेच्छ' लिख दिया? उनसे अधिक आर्योंके और क्या कोई सींग होते हैं, जिससे मनुष्य जातिके आर्य और म्लेच्छ दो खास विभाग किये गये हैं? महाराज! आपकी यह सब कल्पना किसीभी समझदारको मान्य नहीं हो सकती। म्लेच्छ प्रायः मलिन और दूषित आचार वाले मनुष्यों का ही नाम है, जिन लोगोंमें कुल-परम्परासे ऐसे कदाचार रूढ होजातेहैं उन्हींकी म्लेच्छ संज्ञा पड़ जाती है। श्रीविद्यानंदाचार्य, कर्मभूमिज म्लेच्छोंका वर्णन करते हुए, जिनमें आर्यखंडोद्भव और म्लेच्छ-

खण्डोद्भव दोनों प्रकारके म्लेच्छ शामिल हैं, साफ़ लिखते हैं:—

कर्मभूमिभवा म्लेच्छाः प्रसिद्धा यवनादयः।
स्युः परे च तदाचार पालनाद्बहुधा जनाः॥
—श्लोक वार्तिक।

अर्थात्—कर्मभूमियोंमें उत्पन्न हुए जो म्लेच्छ हैं उनमें यवनादिक तो प्रसिद्धही हैं बाकी यवनादिकसे भिन्न जो दूसरे बहुतसे म्लेच्छ हैं वे सब यवनादिकों (यवन, शबर, पुलिंदादिकों) के आचारका ही पालन करते हैं और इसीसे म्लेच्छ कहलाते हैं।

इससे साफ जाहिर है कि म्लेच्छखण्डोंके म्लेच्छोंका आचार यहाँके शक, यवन शवरादि म्लेच्छोंके आचारसे भिन्न नहीं है और इसलिये यह कहना कि 'म्लेच्छ खंडोंके म्लेच्छोंमें हिंसा तथा मांसभक्षणादिको सर्वथा प्रवृत्ति नहीं' आगमें बाग लगाना है। आविद्यानन्दाचार्य म्लेच्छोंके नीच गोत्रादिका उदयभी बतलाते हैं—लिखते हैं उच्च गोत्रादिकके उदयसे आर्य और नीचगोत्रादिक उदयसे म्लेच्छ होते हैं। यथा:—

"उच्चैर्गोत्रोदयादेरार्या नीचैर्गोत्रादेश्चम्लेच्छाः।"

तब, क्या समालोचकजी इन विधानोंके कारण, अपने उक्त वाक्योंके अनुसार, श्री विद्यानंदाचार्य की समझ को "बिलकुल मिथ्या" और उनके इस नीच आदि कथनको "सर्वथा मिथ्या और शास्त्र विरुद्ध" कहनेका साहस करतेहैं? यदि नहीं तो उन्हें अपने उक्त निरर्गल और निःसार वाक्योंके लिये पश्चात्ताप होना चाहिये। औरखेद है कि समालोचकजीने बिना सोचे समझे जहाँ जो जी में आया लिख मारा है! लेखकके शास्त्रीय वर्णनोंको इसी तरह 'सर्वथा मिथ्या और शास्त्र विरुद्ध' बतलाया गया है, और यह उनके सर्वथा मिथ्या और शास्त्रविरुद्ध

कथन-शाइपका एक नमूना है—उसकी खास बानगी है। खाली इस बातको छिपानेके लिये कि 'जरा' ऐसे मनुष्यकी कन्या थी जो म्लेच्छ होनेसे हिंसक और मांस-भक्षक कहा जासकता है आपने म्लेच्छाचारको ही उलट देना चाहा है, यह कितना दुःसाहस है! म्लेच्छोंका आचार तो हिन्दू ग्रन्थोंसे भी मांस भक्षणादिक रूप पाया जाता है, जैसा कि 'प्रायश्चित्ततत्व' में कहे हुए उनके बौधायन आचार्यके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

गोमांसखादको यस्तु विरुद्धं बहु भाषते।
सर्वाचारविहीनश्च म्लेच्छ इत्यभिधीयते॥

अर्थात्—जो गो-मांस भक्षण करता है, बहुत कुछ विरुद्ध बोलता है और सर्व धर्माचारसे रहित है उसे म्लेच्छ कहते हैं।

अब समालोचक जी की उस सफाईको भी लीजिये जो आपने उन म्लेच्छोंके आचार-विषयमें पेश की है, और वह आदिपुराणके निम्न दो श्लोक हैं, जिनमें म्लेच्छखण्डोंके उन म्लेच्छोंका उल्लेख किया गया है जिन्हें भरत चक्रवर्तीके सेनापतिने जीत कर उनसे अपने स्वामीके भोग-योग्य कन्यादि रत्नोंका ग्रहण कियाथा:—

"इत्युपायैरुपायज्ञः साधयन्म्लेच्छभूभुजः।
तेभ्यः कन्यादिरत्नानि प्रभोर्भोग्यान्युपाहरत्॥१४१
धर्मकर्म-बहिर्भूता इत्यमी म्लेच्छका मताः।
अन्यथान्यैः समाचारैरार्यावर्तेन ते समाः॥१४२"

इन पद्योंमें से पहले पद्यमें तो म्लेच्छ राजाओंको जीतने और उनसे कन्यादि रत्नोंके ग्रहण करनेका वही हालहै जो ऊपर बतलाया गया है और दूसरे पद्यमें लिखा है कि 'ये लोग धर्म (अहिंसादि) और कर्म (निरामिष-भोजनादिरूप

सदाचार) से बहिर्भूत हैं-भ्रष्ट हैं-इस लिये इन्हें म्लेच्छ कहते हैं, अन्यथा, दूसरे आचरणों (असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य, शिल्प और विवाहादि कर्मों) की दृष्टिसे आर्यावर्त की जनताके समान हैं (अन्तर्द्वीपज म्लेच्छोंके समान नहीं)।'

बस, इस एक श्लोक पर से ही समालोचकजी अपने उस सब कथन को सिद्ध समझते हैं जिसका विधान उन्होंने अपने उक्त वाक्यों में कियाहै ! परन्तु इस श्लोक में तो साफ़ तौर पर उन म्लेच्छों को धर्म कर्म से बहिर्भूत ठहराया है, और इससे अगले ही निम्न पद्यमें उनके निवासस्थान म्लेच्छखण्डको 'धर्म कर्म की अभूमि' प्रतिपादन किया है। अर्थात्, यह बतलाया है कि वह भूमि धर्म कर्म के अयोग्य है—वहां अहिंसादि धर्मों का पालन और सत्कर्मों का अनुष्ठान नहीं बनता:—

इति प्रसाध्य तां भूमिमभूमिं धर्मकर्मणाम्।
म्लेच्छराजबलैः सार्द्धं सेनानीर्व्यवृतत्पुनः॥ १४२॥
—आदिपुराण, ३१वाँ पर्व।

फिर समालोचकजी किस आधार पर यह सिद्ध समझते हैं कि उन म्लेच्छों में हिंसा तथा मांसभक्षणादिक की प्रवृत्ति सर्वथा नहीं है ? हिंसा तो अधर्म ही का नाम है और मांस भक्षणादिक को असत्कर्म कहते हैं, ये दोनों ही जब वहाँ नहीं और वे लोग नीच तथा कदाचरणी भी नहीं तब तो वे खासे धर्मात्मा, सत्कर्मी और आर्यखण्ड के मनुष्यों से भी श्रेष्ठ ठहरे, उन्हें धर्म कर्म से बहिर्भूत कैसे कहा जा सकता है ? क्या धर्म कर्म के और कोई सींग पूंछ होते हैं जो उनमें नहीं हैं और इसलिये वे धर्म-कर्म से बहिर्भूत क़रार दिये गये हैं ? जान पड़ता है यह सब समालोचकजी की विलक्षण समझ का परिणाम है, जो आप उन्हें म्लेच्छ भी मानते हैं, धर्म कर्म से बहि-

भूत भी बतलाते हैं और फिर यह भी कहते हैं कि वे हिंसा तथा मांसभक्षणादिकसे अलिप्त हैं—उनमें ऐसे पापों तथा कदाचरणों की प्रवृत्ति ही नहीं!! वाह! क्या खूब!! समालोचक जीकी इस समझ पर एक फार्सी कवि का यह वाक्य बिलकुल चरितार्थ होता है:—

"बरीं अक्लोदानिश बबायद गरीस्त।"

अर्थात्—ऐसी बुद्धि और समझ पर रोना चाहिये।

आप लिखते हैं:"यदि वे [म्लेच्छ] नीच होते तो 'उनके अन्य सब आचरण आर्यखण्डके समान होतेहैं' ऐसा आचार्य कभी नहीं लिखते।" परन्तु खेद है आपने यह समझने की ज़रा भी कोशिश नहीं की कि वे आचरण कौनसे हैं और उन की समानतासे क्या वह नीचता दूर होसकती है। इसी देश में भी जिन्हें आप नीच समझते हैं उनके कुछ आचरणोंको छोड़ कर शेष सब आचरण ऊँचसे ऊँच कहलानेवाली जातियों के समान हैं; तब क्या इस समानता परसे ही वे ऊँच होगये और आप उन्हें ऊँच मानने के लिये तय्यार है? यदि समानता का ऐसा नियम हो तब तो फिर कोई भी नीच नहीं रह सकता और श्री विद्यानन्दाचार्यने गलती की जो म्लेच्छोंके नीच गोत्रादिका उदय बतला दिया! परन्तु ऐसा नहीं है; वास्तवमें ऊँचता और नीचता खास खास गुण दोषों पर अवलम्बित होती है—दूसरे आचरणोंकी समानतासे उसपर प्रायः कोई असर नहीं पड़ता।

लेखकने, यद्यपि, अपने लेखमें यह कहीं नहीं लिखा था कि जरा 'नीच थी,' जैसाकि समालोचकजीने अपने पाठकोंको सुझाया है किन्तु उसके पिताकी बाबत सिर्फ इतना ही लिखा था कि 'वह आर्य तथा उच्च जातिका मनुष्य नहीं था,' फिर भी समालोचक जी ने, जराकी नीचताका निषेध करते हुए,

जो यह लिखनेका कष्ट उठाया है कि "नीच हम [उसे] तबही मान सकते हैं जबकि उस कन्याके जीवन चरितमें कुछ नीचता दिखलाई हो," इसका क्या अर्थ है वह कुछ समझमें नहीं आता। क्या समालोचकजी इसके द्वारा यह प्रतिपादन करना चाहते हैं कि 'किसी तरह पर अच्छे संस्कारोंमें रहनेके कारण नीच जातिमें उत्पन्न हुई कन्याओंके जीवनचरित में यदि नीचताकी कोई बात न दिखलाई पड़ती हो तो हम उन्हें ऊँच मानने, उनसे ऊँच जातियोंकी कन्याओं जैसा व्यवहार करने और ऊँच जाति वालोंके साथ उनके विवाह-सम्बंधको उचित ठहरानेके लिये तय्यार हैं? यदि ऐसा है तब तो आप का यह विचार कितनी ही दृष्टियोंसे अभिनंदनीय होसकताहै, और यदि वैसा कुछ आप प्रतिपादन करना नहीं चाहते तो आप का यह लिखना बिलकुल निरर्थक और अप्रासंगिक जान पड़ताहै।

हमारे समालोचकजीको एक बड़े फिक्रने और भी घेरा है और वह है भरत चक्रवर्तीका म्लेच्छकन्याओंसे माना हुआ (admitted) विवाह। आपकी समझमें, म्लेच्छोंको उच्चजातिके न मानने पर यह नामुमकिन (असंभव) है कि भरतजी नीचजाति की कन्याओंसे विवाह करते, और इसी लिये आप लिखते हैं:—

"यह कभी संभव नहींहो सकता कि जो भरत गृहस्था-वस्थामें अपने परिणाम ऐसे निर्मल रखते थे कि जिन्हें दीक्षा लेतेही केवलज्ञान उत्पन्न हो गया और जिनके लिये "भरत घरमें ही वैरागी" आदि अनेक प्रकारकी स्तुतिए प्रसिद्ध हैं वे भरत नीच कन्याओं से विवाह करें। ऐसे महापुरुषोंके लिये नीच कन्याओंके साथ विवाहकी बात कहना केवल उनका अपमान करना है उन्हें कलंक लगाना है।"

इसके उत्तरमें हम सिर्फ इतनाही कहना चाहते हैं कि

भरतजी किसी वक्त घरमें वैरागी जरूर थे परन्तु वे उस वक्त वैरागी नहीं थे जबकि दिग्विजय कर रहे थे, युद्धमें लाखों जीवोंका विध्वंस कर रहे थे और हजारों स्त्रियों से विवाह कर रहे थे। यदि उस समय, यह सब कुछ करते हुए, भी वे वैरागी थे तो उनके उस सुदृढ़ वैराग्यमें एक नीच जातिकी कन्यासे विवाह कर लेने पर कौनसा फर्क पड़ जाता है और वह किधर से बिगड़ जाता है? महाराज! आप भरतजी की चिन्ताको छोड़िये, वे आप जैसे अनुदार विचारके नहीं थे। उन्होंने राजाओंको क्षात्र धर्मका उपदेश देते हुए स्पष्ट कहा है:—

स्वदेशेऽनक्षरम्लेच्छान् प्रजाबाधाविधायिनः।
कुलशुद्धिप्रदानाद्यैः स्वसात्कुर्यादुपक्रमैः॥ १७९॥

—आदिपुराण, पर्व ४२ वाँ।

अर्थात्—अपने देशमें जो अज्ञानी म्लेच्छ प्रजाको बाधा पहुँचाते हों-लूटमार करते हों उन्हें कुलशुद्धि-प्रदानादिकके द्वारा क्रमशः अपने बना लेने चाहियें।

यहां कुल शुद्धिके द्वारा अपने बना लेने का स्पष्ट अर्थ म्लेच्छोंके साथ विवाह संबंध स्थापित करने और उन्हें अपने धर्ममें दीक्षित करके अपनी जातिमें शामिल कर लेनेका है। साथही, यहभी जाहिर होता है कि म्लेच्छोंका कुल शुद्ध नहीं। और जब कुलही शुद्ध नहीं तब जातिशुद्धिकी कल्पना तो बहुत दूरकी बात है।

भरतजीने, अपने ऐसेही विचारोंके अनुसार, यह जानते हुए भी कि म्लेच्छोंका कुल शुद्ध नहींहै, उनकी बहुतसी कन्याओं से विवाह किया। जिनकी संख्या, आदिपुराणमें, मुकुटबद्ध राजाओंकी संख्या जितनी बतलाई है। साथही, भरतजीकी कुल-जातिसंपन्ना स्त्रियोंकी संख्या उससे अलग दी है। यथा:—

कुलजात्यभिसम्पन्ना देव्यस्तावत्प्रमाः स्मृताः ।
रूपलावण्यकान्तीनां याः शुद्धाकरभूमयः ॥ ३४ ॥
म्लेच्छराजादिभिर्दत्तास्तावन्त्यो नृपवल्लभाः ।
अप्सरः संकथा क्षोणीं यकाभिरवतारिताः ॥ ३५ ॥
—३७ वाँ पर्व ।

इनमेंसे पहिले पद्यमें आर्य जातिकी स्त्रियोंका उल्लेख है और उन्हें 'कुलजात्यभिसंपन्ना' लिखा है। और दूसरे पद्यमें म्लेच्छ जातिके राजादिकों की दी हुई स्त्रियोंका वर्णन है। इससे जाहिर है कि भरत चक्रवर्तीने म्लेच्छोंकी जिन कन्याओंसे विवाह किया वे कुल जातिसे संपन्न नहीं थीं—अर्थात्, उच्चकुल जातिकी नहीं थीं। साथही, 'म्लेच्छराजादिभिः' पदमें आए हुए 'आदि' शब्दसे यह भी मालूम होता है कि वे म्लेच्छ कन्याएँ केवल म्लेच्छ राजाओं ही की नहीं थीं बलिक दूसरे म्लेच्छोंकी भी थीं। ऐसी हालतमें समालोचजीकी उक्त समझ कहाँ तक ठीक है और उनके उस लिखनेका क्या मूल्य है, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। लेखक तो यहाँ पर सिर्फ इतना और बतला देना चाहता है कि पहले जमानेमें दुष्कुलोंसे भी उत्तम कन्याएँ ले ली जाती थीं और उन्हें अपने संस्कारों द्वारा उसी तरह पर ठीक कर लिया जाता था जिस तरह कि एक रत्न संस्कारके योगसे उत्कर्षको प्राप्त होता है अथवा सुवर्ण धातु संस्कारको पाकर शुद्ध हो जाता है। इसीसे यह प्रसिद्धि चली आती है—"कन्यारत्नं दुष्कुलादपि"। अर्थात्, दुष्कुलसे भी कन्यारत्न ले लेना चाहिये। उस समय पितृकुल और मातृकुलकी शुद्धिको लिये हुए 'सज्जाति' दो प्रकारकी मानी जाती थी—एक शरीर जन्मसे और दूसरी संस्कार-जन्मसे। शरीरजन्मसे उत्पन्न होने वाली सज्जातिका सद्भाव

प्रायः आर्यखण्डोंमें माना जाता था*--म्लेच्छ खण्डोंमें नहीं। म्लेच्छखण्डोंमें तो संस्कार जन्मसे उत्पन्न होनेवाली सज्जातिका भी सद्भाव नहीं बनता; क्योंकि वहाँकी भूमि धर्म कर्मके अयोग्य है--उसका वातावरणही बिगड़ा हुआ है। हाँ, वहाँके जो लोग यहाँ आजाते थे वे संस्कारके बलसे सज्जातिमें परिणत किये जा सकतेथे और तब उनकी म्लेच्छसंज्ञा नहीं रहती थी। यहाँ की जो व्यक्तियाँ शरीरजन्मसे अशुद्ध होती थी उन्हें भी अपने धर्ममें दीक्षित करके, संस्कार जन्मके योग से सज्जातिमें परिणत करलिया जाताथा और इस तरह पर नीचोंको ऊँच बना लिया जाताथा। ऐसे लोगोंका वह संस्कार जन्म 'अयोनिसंभव' कहलाता था+। म्लेच्छों के त्रास अथवा दुर्भिक्षादि किसी भी कारणसे यदि किसीके सत्कुलमें कोई बट्टा लग जाता था—दोष आजाता था—तो राजा अथवा पंचों आदिकी सम्मति से उसकी कुलशुद्धि हो सकती थी और उसकुलके व्यक्ति तब उपनयन (यज्ञोपवीत) संस्कारके योग्य समझे जाते थे। इस कुलशुद्धिका विधान भी आदिपुराण में पाया जाता है। यथा :—

---

*सज्जन्मप्रतिलंभोऽयमार्यावर्त्ते विशेषतः।
सतां देहादिसामग्र्यां श्रेयः सूते हि देहिनाम् ॥८७॥
शरीरजन्मना सैषा सज्जातिरुपवर्णिता।
एतन्मूला यतः सर्वाः पुंसामिष्टार्थसिद्धयः॥८८॥
संस्कारजन्मना चान्या सज्जातिरनुकीर्त्यते।
यामासाद्य द्विजन्मत्वं भव्यात्मा समुपाश्नुते ॥ ८६॥
—आदिपुराण, ३८वाँ पर्व।

+ अयोनिसंभवं दिव्यज्ञानगर्भसमुद्भवं।
सोऽधिगम्य परं जन्म तदा सज्जातिभाग्भवेत् ॥६८॥
—आदिपुराण पर्व ३८वां।

कुतश्चित्कारणाद्यस्य कुलं सम्प्राप्तदूषणम् ।
सोऽपि राजादिसम्मत्या शोधयेत्स्वं यदाकुलं॥१६८॥
तदाऽस्योपनयार्हत्वं पुत्रपौत्रादिसंततौ ।
न निषिद्धं हि दीक्षार्हं कुले चेदस्य पूर्वजाः ॥१६६॥
—४०वाँ सर्ग ।

शुद्धिका यह उपदेश भी भरत चक्रवर्तीका दिया हुआ आदिपुराण में बतलाया गया है और इससे दस्सों तथा हिन्दूसे मुसलमान बने हुए मनुष्यों की शुद्धिका खासा अधिकार पाया जाता है। ऐसी हालतमें समालोचकजी भरत महाराजके अपमान और कलंककी बातका क्या खयाल करते हैं, वे उनके उदार विचारों को नहीं पहुँच सकते, उन्हें अपनी ही सँभाल करनी चाहिये। जिसे वे अपमान और दूषण (कलंक) की बात समझते हैं वह भरतजीके लिये अभिमान और भूषणकी बात थी। वे समर्थ थे, योजक थे, उनमें योजनाशक्ति थी और अपनी उस शक्तिके अनुसार वे प्रायः किसी भी मनुष्यको अयोग्य नहीं समझते थे—सभी भव्यपुरुषोंको योग्यतामें परिणत करने अथवा उनकी योग्यतासे काम लेनेके लिये सदा तय्यार रहते थे। और यह उन्हीं जैसे उदारहृदय योजकोंके उपदेशादि का परिणाम है जो प्राचीन कालमें कितनी ही म्लेच्छ जातियोंके लोग इस भारतवर्ष में आए और यहाँके जैन, बौद्ध, अथवा हिन्दू धर्मोंमें दीक्षित होकर आर्य जनता में परिणत होगये। और इतने मखलूत हुए (मिलगये) कि आज उनके वंशके पूर्वपुरुषोंका पता चलाना भी मुशकिल हो रहा है। समालोचकजीको भारतके प्राचीन इतिहासका यदि कुछ भी पता होता तो वे एक म्लेच्छ कन्याके विवाह पर इतना न चौंकते और न सत्य पर पर्दा डालनेकी जघन्य चेष्टा करते। अस्तु।

इस सब कथनसे साफ़ ज़ाहिर होता है कि—जिस जराका वसुदेवके साथ विवाह हुआ, जिसके पुत्र जरत्कुमारने राजपाट छोड़कर जैनमुनि-दीक्षा तक धारणकी और जिसकी संततिमें होने वाले जितशत्रु राजासे भगवान महावीरकी बुआ ब्याही गई वह एक म्लेच्छ राजाकी कन्या थी, भील भी म्लेच्छोंकी एक जाति होनेसे वह भील कन्या भी हो सकती है परन्तु वह म्लेच्छ खंडके किसी म्लेच्छ राजाकी कन्या नहीं थी किन्तु आर्यखण्डोद्भव म्लेच्छ राजाकी कन्या थी जो चम्पापुरीके पासके इलाके में रहता था। म्लेच्छखंडोमें आर्योंका उद्भव नहीं। म्लेच्छोंका सर्व सामान्याचार वही हिंसा करना और मांस भक्षणादिक है। म्लेच्छ खडोंके म्लेच्छभी उस आचारसे खाली नहीं हैं, वे खास तौरपर धर्म कर्मसे वहिर्भूत हैं और उनका क्षेत्र धर्म कर्मके अयोग्य माना गया है वहाँ सज्जातिका उत्पाद भी प्रायः नहीं बनता। म्लेछोंमें नीच गोत्रादिकका उदयभी बतलाया गया है और इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वे उच्चजातिके होते हैं। भरत चक्रवर्तीने (तदनुसार और भी चक्रवर्तियोंने) म्लेच्छ राजादिकों की बहुतसी कन्याओंसे विवाह किया है, वे हीन कुल जातिकी कन्याओंसे विवाह कर लेना अनुचित नहीं समझते थे, उन्होंने म्लेच्छोंकी कुलशुद्धि करने और जिनके कुलमें किसी वजहसे कोई दोष लग गया हो उन्हें भी शुद्ध कर लेनेका विधान किया है। उस वक्तसे न मालूम कितने म्लेच्छ शुद्ध होकर आर्यजनतामें परिणत हुए। इतिहाससे कितनेही म्लेच्छ राजादिकोंका आर्य जनतामें शामिल होनेका पता चलता है। पहले जमानेमें दुष्कुलोंसे भी उत्तम कन्याएँ ले ली जाती थीं, राजा श्रेणिकके पिताने भील कन्यासे विवाह किया और सम्राट चंद्रगुप्तने एक म्लेच्छराजाकी कन्यासे शादी की। ऐसी हालतमें समालोचकजीने उदाहरणके इस अंश पर जो कुछ भी

आक्षेप किये हैं वे सब मिथ्या तथा व्यर्थ हैं और उनकी पूरी नासमझी प्रकट करते हैं।

अब उदाहरणके तृतीय अंश—'प्रियंगुसुन्दरीसे विवाह'—को लीजिये।

व्यभिचारजातों और दस्सोंसे विवाह।

लेखकने लिखा था कि "—प्रियंगुसुन्दरीके पिताका नाम 'एणीपुत्र' था। यह एणीपुत्र 'ऋषिदत्ता' नामकी एक अविवाहिता तापस-कन्यासे व्यभिचारद्वारा उत्पन्न हुआ था। प्रसव-समय उक्त ऋषिदत्ताका देहान्त हो गया और वह मरकर देवी हुई, जिसने एणी अर्थात् हरिणीका रूप धारण करके जंगलमें अपने इस नवजात शिशुको स्तन्यपानादिसे पाला और पाल पोषकर अन्तको शीलायुध राजाके सपुर्द कर दिया। इससे प्रियंगुसुन्दरीका पिता एणीपुत्र 'व्यभिचारजात' था, जिसको आज कलकी भाषामें 'दस्सा' या 'गाटा' भी कहना चाहिये। वसुदेवजीने विवाहके समय यह सब हाल जान करभी इस विवाहको किसी प्रकारसे दूषित, अनुचित, अथवा अशास्त्र-सम्मत नहीं समझा और इस लिये उन्होंने बड़ी खुशीके साथ प्रियंगुसुन्दरीका भी पाणिग्रहण किया।"

उदाहरणके इस अंश पर जो कुछ भी आपत्ति की गई है उसका सारांश सिर्फ़ इतनाही है कि एणीपुत्र व्यभिचारजात नहीं था किन्तु गन्धर्व विवाहसे उत्पन्न हुआ था। परन्तु ऋषिदत्ताका शीलायुधसे गंधर्व विवाह हुआ था, ऐसा उल्लेख जिनसेनाचार्यने अपने हरिवंशपुराणमें कहाँ किया है, इस बातको समालोचकजी नहीं बतला सके। आपने उक्त हरिवंशपुराणके आधार पर कई पृष्ठोंमें ऋषिदत्ताकी कुछ विस्तृत कथा देते हुए

भी, जिनसेनाचार्यका एक भी वाक्य ऐसा उद्धृत नहीं किया जिससे गंधर्वविवाहका पता चलता। सारी कथामेंसे नीचे लिखे कुल दो वाक्य उद्धृत किये गये हैं जो दो पद्योंके दो चरणहैं:-

"ऋतुमत्यार्यपुत्राहं यदिस्यां गर्भधारिणी।"

"पृष्ठस्तथा [तः] सतामाह या [मा] कुलाभूः प्रियेशृणु"

इनमेंसे पहले चरणमें ऋषिदत्ताके प्रश्नका एक अंश और दूसरेमें शीलायुधके उत्तरका एक अंश है। समालोचकजी कहते हैं कि कामक्रीडाके अनन्तर की बात चीतमें जब ऋषिदत्ताने शीलायुधको 'आर्यपुत्र' कहकर और और शीलायुधने ऋषिदत्ताको 'प्रिये' कहकर संबोधन किया तो इससे उनके गंधर्व विवाहका पता चलता है—यह मालूम होता है कि उन्होंने आपसमें पति-पत्नी होनेका ठहराव कर लिया था और तभी भोग किया था; क्योंकि "आर्यपुत्र जो विशेषण है यह पतिके लिये ही होता है" और "जो प्रिये विशेषण है यह पत्नीके ही लिये होता है।" इसी प्रकार जिनदास ब्रह्मचारीके हरिवंशपुराणसे सिर्फ एक वाक्य ("इति पृष्ठः सतामूचे मा भैषी शृणु वल्लभे") उद्धृत करके उसमें आए हुए 'वल्लभे' विशेषणकी बाबत लिखा है—"ये भी पत्नीके लियेही होता है।" परन्तु ये विशेषण पति-पत्नीके लियेही प्रयुक्त होते हैं-अन्यके लिये नहीं-ऐसा कहीं भी कोई नियम नहीं देखा जाता। शब्द-कोशोंके देखनेसे मालूम होता है कि आर्य पुत्र "आर्यस्य पुत्र"—आर्यके पुत्रको, "मान्यस्य पुत्र"—मान्यके पुत्रको और "गुरुपुत्र"—गुरुके पुत्रको भी कहते हैं (देखो 'शब्दकल्पद्रुम')। 'आर्य' शब्द पूज्य, स्वामी, मित्र, श्रेष्ठ, आदि कितनेही अर्थोंमें व्यवहृत होता है और इस लिये 'आर्य पुत्र' के और भी कितने ही अर्थ तथा वाच्य होते हैं। वामन शिवराम ऐप्टेने, अपने कोशमें, यहभी बत-

लाया है कि आर्य पुत्र 'बड़े भाईके पुत्र' और 'राजा' के लिये भी एक गौरवान्वित विशेषणके तौरपर प्रयुक्त होता है। यथाः—
आर्यपुत्रः—honorrific designation of the son of the elder brother; or of a prince by his general &c.

ऐसी हालतमें एक मान्य और प्रतिष्ठत जन तथा राजा समझ कर भी उक्त सम्बोधन पदका प्रयोग हो सकता है और उससे यह लाजिमी नहीं आता कि उनका विवाह होकर पति-पत्नी संबंध स्थापित होगया था। इसी तरह पर 'प्रिया' और 'वल्लभा' शब्दोंके लिये भी, जो दोनों एक ही अर्थको वाचक हैं, ऐसा नियम नहीं है कि वे अपनी विवाहिता स्त्रीके लिये ही प्रयुक्त होते हों—वे साधारण स्त्री मात्रके लिये भी व्यवहृत होते हैं, जो अपनेको प्यारी हो। इसीसे उक्त ऐप्टे साहबने 'प्रिया' का अर्थ a woman in general और वल्लभाका a beloved female भी दिया है। कामीजन तो अपनी कामुकियों अथवा प्रेमिकाओंको इन्हीं शब्दोंमें क्या इनसेभी अधिक प्रेम-व्यंजक शब्दोंमें सम्बोधन करतेहैं। ऐसी हालतमें ऋषिदत्ताके प्रेमपाशमें बँधे हुए उस कामांध शीलायुधने यदि उसे 'प्रिये' अथवा 'वल्लभे' कहकर सम्बोधन किया तो इसमें कौन आश्चर्यकी बात है? इन सम्बोधन पदोंसे ही क्या दोनोंका विवाह सिद्ध होता है? कभी नहीं। केवल भोग करने से भी गंधर्व विवाह सिद्ध नहीं होजाता, जब तक कि उससे पहले दोनोंमें पति पत्नी बननेका दृढ़ संकल्प और ठहराव न होगया हो। अन्यथा, कितनी ही कन्याएँ कुमारावस्थामें भोग कर लेती हैं और वे फिर दूसरे पुरुषोंसे व्याही जातीहैं। इस लिये गंधर्व विवाहके लिये भोगसे पहले उक्त संकल्प तथा ठहराव का होना जरूरी और लाजिमी है। समालोचक जी कहते भी हैं कि उनदोनोंने ऐसा निश्चय करके ही भोग किया था, परन्तु

जिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराणमें उस संकल्प, ठहराव अथवा निश्चयका कहीं भी कोई उल्लेख नहीं है। भोगके पश्चात भी ऋषिदत्ता की ऐसी कोई प्रतिज्ञा नहीं पाई जाती जिससे यह मालूम होता हो कि उसने आजन्मके लिये शीलायुधको अपना पति बनाया था।

समालोचक जी एक बात और भी प्रकट करतेहैं और वह यह कि ऋषिदत्ता पंचाणुव्रतधारिणी थी और 'सम्यक्त्व सहित मरी थी "इसी लिये वह बिना किसीका पति बनाये कभी कामसेवन नहीं कर सकती थी।" परन्तु सकने और न सकने का सवाल तो बहुत टेढ़ा है। हम सिर्फ इतनाही पूछना चाहते हैं कि यह कहाँका और कौनसे शास्त्रका नियम है कि जो सम्यक्त्व सहित मरण करे उसका संपूर्ण जीवन पवित्र ही रहा हो-उसने कभी व्यभिचार न किया हो? किसी भी शास्त्रमें ऐसा नियम नहीं पाया जाता। और न यही देखनेमें आता है कि जिसने एक बार अणुव्रत धारण कर लिये वह कभी उनसे भ्रष्ट न होसकता हो। अणुव्रतीकी तो बातही क्या अच्छे अच्छे महाव्रती भी कामपिशाचके वशवर्ती होकर कभी कभी भ्रष्ट होगये हैं। चारुदत्त भी तो अणुव्रती थे और श्रावकके इन व्रतोंको लेनेके बाद ही वेश्यासक्त हुए थे। फिर यह कैसे कहा जासकता है कि ऋषिदत्तासे व्यभिचार नहीं बन सकता था। श्रीजिनसेनाचार्यने तो साफ लिखा है कि उन दोनोंके पारस्परिक प्रेमने चिरकालकी मर्यादा को तोड़ दिया था। यथा:—

*शांतायुधसुतः श्रीमांश्रावस्तीपतिरेकदा।

---

*जिनदास ब्रह्मचारीने, अपने हरिवंशपुराणमें, इन चारों पद्योंकी जगह नीचे लिखे तीन पद्य दिये हैं:—

शांतायुधात्मजो जातु श्रावस्तीनगरीपतिः।

शीलायुध इतिख्यातः संयातस्तापसाश्रमम् ॥३६ ॥
एकयैव कृतातिथ्यस्तया तापसकन्यया ।
रुच्याहारैर्मनोहारि-सवल्कलकुचश्रिया ॥ ३७ ॥
अतिविश्रंभतः प्रेम तयोरमतिरूपयोः ।
विभेद निजमर्यादां चिरं समनुपालिताम् ॥ ३८ ॥
गते रहसि निःशंकं निःशंकस्तामसौ युवा ।
अरीरमद्यथाकामं कामपाशवशो वशां ॥ ३९ ॥

—हरिवंशपुराण ।

अर्थात्—एक दिन शांतायुतधका पुत्र शीलायुध, जो श्रावस्ती नगरीका राजा था, तापसाश्रममें गया । वहाँ वह तापस-कन्या ऋषिदत्ता अकेली थी और उसने ही सुन्दर भोजनसे राजाका अतिथि-सत्कार किया । ये दोनों अति रूपवान थे, इनके परस्पर केलिकलह उपस्थित होने—अथवा स्नेहके बढ़ने से—दोनोंके प्रेमने चिरकालसे पालन की हुई मर्यादाको तोड़ डाला । और वह कामपाशके वश हुआ युवा शीलायुध उस कामपाशवशवर्तिनी ऋषिदत्ताको एकान्त में लेजाकर उससे निःशंक हुआ यथेष्ट काम क्रीड़ा करने लगा ।

प० दौलतरामजी भी अपनी टीकामें लिखते हैं—"ऋषिदत्ता तापसकी कन्या अकेली हुती तानैं शीलायुधको मनोहर

शीलायुधाभिधोयासीत्तं तापसजनाश्रमं ॥ ३६ ॥
तयैकयैव विहितातिथ्यस्तापसकन्यया ।
वन्याहारैः परां प्रीतिं स तया सह संगतः ॥३७ ॥
ततो रहसि निःशंकस्तामसौतापसात्मजां ।
बुभुजे कामनाराचवशाल्पीकृतविग्रहाम् ॥ ३८ ॥

आहार कराया, ए दोऊही अतुल रूप सो इनकै प्रेम बढ़ा सो चिरकालकी मर्यादा हुती सो भेदी गई। एकांत विषै दोऊ निःशंक भये यथेष्ट रमते भये।" और पं० गजाधरलालजी ३८ वें पद्यके अनुवादमें लिखते हैं—"वे दोनों गाढ प्रेम बंधनमें बंध गये उनके उस प्रेम बन्धनने यहाँ तक दोनों पर प्रभाव जमा दिया कि नतो ऋषिदत्ताको अपनी तपस्विमर्यादाका ध्यान रहा और न राजा शीलायुधको ही अपनी वंशमर्यादा सोचनेका अवसर मिला।" और इसके बाद आपने यह भी जाहिर किया है कि "ऋषिदत्ताको अपने अविचारित काम पर बड़ा पश्चात्ताप हुआ मारे भयके उसका शरीर थर थर काँपने लगा।"

श्रीजिनसेनाचार्यके वाक्यों और उक्त टीका वचनों से यह स्पष्ट ध्वनि निकलती है कि ऋषिदत्ता और शीलायुधने विवाह न करके व्यभिचार कियाथा। हरिवंशपुराणके उक्त चारों पद्यों में शीलायुधके आश्रममें जाने और भोग करने तकका पूरा वर्णन है परन्तु उसमें कहीं भी पति-पत्नीके संबंध-विषयक किसी ठहराव, संकल्प, प्रतिज्ञा या विवाहका कोई उल्लेख नहीं है। फिर यह कैसे कहा जासकता है कि इन दोनोंका गंधर्व विवाह हुआथा? समालोचकजी, कथाका पूर्णांश (?) देते हुए लिखते हैं:—

> "चूंकि राजपुत्र भी तरुण तथा रूपवान था और कन्या भी सुन्दरी व लावण्यवती थी इनका आपस में एक दूसरे पर विश्वास हो गया। (पति पत्नी बनने की वार्ता हो गई) जो कि गन्धर्व विवाह से भली भाँति प्रदित होता है। और इन्होंने परस्पर मे काम क्रीडा की"।

मालूम होता है यह आपने उक्त ३८ वें और ३६ वें पद्यों का पूर्णांश नहीं किन्तु सारांश दिया है और इस में चिरपालित

मर्यादा को तोड़ने की बात आप क़तई छिपा गये! अथवा यों कहिये कि, कथाका उपर्युक्त सारांश देने पर भी, कथाके अंश को छिपानेका जो इलज़ाम आपने लेखक पर लगाया था उसके स्वयं मुलज़िम और मुजरिम (अपराधी) बन गये। साथ ही, यह भी मालूम होता है कि ३८ वें पद्य में आए हुए "अति-विश्रंभतः", पद का अर्थ आपने 'विश्वास होगया' समझा; उसे ही पति-पत्नी बनने की वार्ता होना मान लिया! और फिर उसीको गंधर्व विवाह में घटित कर लिया!! वाह! क्या ही अच्छा आसान नुसखा आपने निकाला! कुछ भी करना धरना न पड़े और मुफ्त में पाठकों को गंधर्व विवाह का पाठ पढ़ा दिया जाय!! महाराज! इस प्रकार की कपट-कला से कोई नतीजा नहीं है। मूल ग्रन्थ में 'अतिविश्रंभतः' यह स्पष्ट पद है, इस में पति-पत्नी बनने की कोई वार्ता छिपी हुई नहीं है और न गंधर्व विवाह ही अपना मुँह ढाँपे हुए बैठा है। 'विश्रंभ' शब्द का अर्थ, यद्यपि, विश्वास भी होता है परन्तु 'केलिकलह' (Love quarrel) और 'प्रणय' (स्नेह) भी उसके अर्थ हैं (*विश्रंभः केलिकलहे, विश्वासे प्रणये वधे) और ये ही अर्थ यहां पर प्रकरण संगत जान पड़ते हैं। 'अति विश्वास से प्रेम ने मर्यादा तोड़ दी' यह अर्थ कुछ ठीक नहीं बैठता। हाँ, स्नेहके अतिरेकसे अथवा केलिकलहके बढ़नेसे—प्रेमप्रस्तावके लिये अधिक छेड़छाड़ हँसी मजाक और हाथा पाई के होने से—प्रेम ने उनकी चिरपालित मर्यादा तोड़ दी', यह अर्थ संगत मालूम होता है। परन्तु कुछ भी सही, आप अपने 'विश्वास' अर्थ पर ही विश्वास रक्खें फिर भी तो उसमें से

* यह श्री हेमचन्द्र और श्रीधरसेनाचार्यों का वाक्य है। मेदिनी कोशमें भी 'केलिकलह' और 'प्रणय' दोनों अर्थ दिये हैं।

पति-पत्नी होने की कोई बात चीत सुनाई नहीं पड़ती और न गंधर्व विवाह ही के मुख का कहीं से दर्शन होता है। यदि दोनों का गंधर्व विवाह हुआ होता तो कोई वजह नहीं थी कि क्यों ऋषिदत्ता प्रसव से पहले ही शीलायुध के घर पर न पहुंच गई होती—खासकर ऐसी हालत में जब कि उसने शीलायुध-द्वारा भोगे जाने का हाल अपने माता पिता से भी उसी दिन कह दिया था। साथ ही, समालोचकजीके शब्दों में (मूल ग्रन्थ के शब्दों में नहीं) यह भी कह दिया था कि "मैं एकान्त में राजा शीलायुध की पत्नी हो चुकी हूं।" ऐसी दशा में तो जितना भी शीघ्र बनता वे प्रकट रूप से उसका बाकायदा (नियमानुसार) विवाह शीलायुधके साथ कर देते और उसे उसके घर पर भेज देते। ऋषिदत्ता को तब क्या ज़रूरत थी कि वह डरती और घबराती हुई यह प्रश्न करती कि ऋतु-मती होनेसे यदि मेरे गर्भ रहगया हो तो मैं उसका क्या करूँगी। एक विवाहिता स्त्री गर्भ रह जाने पर क्या किया करती है? जब वह खुद बालिग़ (प्राप्तवयस्क) थी, अपनी खुशी से उसने विवाह किया था और एक ऐसे समर्थ पुरुष के साथ विवाह किया था जोकि राजा था तो फिर उसके लिये डरने, घबराने और थरथर कांपने की क्या ज़रूरत थी? प्रियंगुसुन्दरी का भी तो वसुदेवके साथ पहले गंधर्व विवाह ही हुआ था। वह तो तभी से उनके साथ रहने लगी थी। और बादको उसका बाजाब्ता विवाह भी होगया था। हो सकता है कि ऋषिदत्ता अपने तापसी जीवन में ही रहना चाहती हो और इसीलिये केवल पुत्र के वास्ते उसने पूछ लिया हो कि उसके होने पर क्या किया जाय। ऐसी हालतमें उसका वह कर्म गंधर्व-विवाह नहीं कहला सकता। शीलायुध ने उसके प्रश्नका जो उत्तर दिया उससे भी यह बात नहीं पाई जाती कि उनका परस्पर

विवाह हो गया था। वह कहता है 'प्रिये! डरे मत, मैं श्रावस्ती नगरी का इक्ष्वाकुवंशी राजा हूं और शीलायुध मेरा नाम है; जब तेरे पुत्र हो तब तू पुत्र-सहित मेरे पास आइयो--अथवा मुझ से मिलियो।' वाह! क्या अच्छा उत्तर है! क्या अपनी पत्नी को ऐसा ही उत्तर दिया जाता है? यदि विवाह हो चुका था तो क्यों नहीं उसने दृढ़ता के साथ कहा कि मैं तुझे अभी अपने घर पर बुलाये लिये लेता हूं? क्यों तापसाश्रम में ही अपने पुत्र का जन्म होने दिया? और क्यों उसने फिर अन्त तक उसकी कोई ख़बर नहीं ली? वह तो उसे यहाँ तक भूल गया कि जब वह मरकर देवी हुई और उसी तापसी वेष में पुत्रको लेकर शीलायुध के पास गई तो उसने उसे पहिचाना तक भी नहीं। क्या इन्हीं लक्षणों से यह जाना जाता है कि दोनों का विवाह हो गया था! और भोग से पहले पति पत्नी बनने की सब बातचीत तै हो गई थी? कभी नहीं। उत्तर से तो यह मालूम होता है कि भोग से पहले शीलायुधने अपना इतना भी परिचय उसे नहीं दिया कि वह कौन से वंशका और कहाँका राजा है,—इस परिचयके देनेकी भी उसे बादको ही ज़रूरत पड़ी—उसने तो अपने वीर्य से उत्पन्न होनेवाले पुत्र की रक्षा आदिके प्रबन्धके लिये ही यह कह दिया मालूम होता है कि तुम उसे लेकर मेरे पास आजाइयो। फिर यह कैसे कहा जासकता है कि दोनों का परिचय और विवाह की बात चीत होकर भोग हुआ था? यदि दोनों का गंधर्व विवाह हुआ होता तो श्रीजिनसेनाचार्य उसका उसी तरह से स्पष्ट उल्लेख करते जिस तरह से कि उन्होंने इसी प्रकरण में प्रियंगुसुन्दरी के गंधर्व विवाह का उल्लेख किया है*। अस्तु; उक्त प्रश्नोत्तर

*यथा:—प्रियंगुसुन्दरी सौरिं रहसि प्रत्यपद्यत।
सा गंधर्वविवाहादि सहसन्मुखपंकजा ॥६८॥

के श्लोक निम्न प्रकार हैं और वे ऊपर उद्धृत किये हुए पद्यों के ठीक बाद पाये जाते हैं:—

विजिज्ञपत्ततस्तं सा साध्वी साध्वसपूरिता।
ऋतुमत्यार्यपुत्राहं यदि स्यां गर्भधारिणी ॥ ४० ॥
तदा वद विधेयं मे किमिहाकुलचेतसः।
पृष्ठस्ततः सतामाह माकुलाभूः प्रिये शृणु ॥ ४१ ॥
इक्ष्वाकुकलजो राजा श्रावस्त्यामस्तशात्रवः।
शीलायुधस्त्वयावश्यं दृष्टव्योहं सपुत्रया ॥ ४२ ॥

यशःकीर्ति भट्टारकके बनाये हुए अपभ्रंशभाषात्मक प्राकृत हरिवंशपुराणमें यही प्रश्नोत्तर इस प्रकारसे दिया हुआ है :—

रिउसंपएणी काइ करेसमि।
हउसो गब्भु का सुयउ देसमि।
सीलाउहु णिउ हउं साविच्छिहिं।
सो णंदणु महु आणिवि दिज्जहिं।

अर्थात्—(ऋषिदत्ताने पूछा) मैं ऋतुसम्पन्ना हूं, यदि मेरे गर्भ रह गया तो मैं क्या करूँगी और उस पुत्रको किसे दूँगी? (उत्तर में शीलायुधने कहा) मैं श्रावस्ती (नगरी) में शीलायुध (नामका) राजा हूं सो वह पुत्र तुम मुझे लाकर दे देना।

इसके बाद लिखा है कि 'राजा अपने नगर चला गया और ऋषिदत्ताने वह सब वृत्तांत अपने माता पितासे कह दिया'। यथा

एउ कहेवि सो गउ णिय णयरहो।
थिउ वित्तंतु कहिउ तिणि पियरहो ॥

इस प्रश्नोत्तरसे, यद्यपि, यह बात और भी साफ़ जाहिर

होती है कि ऋषिदत्ता और शीलायुधका आपसमें विवाह नहीं हुआ था किन्तु भोग हुआ था और उस भोगसे उत्पन्न होने वाले पुत्रका ही इस प्रश्नोत्तर द्वारा निपटारा किया गया है कि उसका क्या बनेगा । अन्यथा,—विवाहकी हालतमें--ऐसे विलक्षण प्रश्नोत्तर का अवतार ही नहीं बन सकता । परन्तु इस प्रश्नोत्तरसे ठीक पहले शीलायुधके तापसाश्रम में जाने आदिका जो वर्णन दिया है उसमें 'विवाहिय' पद खटकता है और वह वर्णन इस प्रकार है :—

सीलाउहणरवइ तहिं पत्तउ ।
वनकीलइ सो ताए दिदिट्ठिउ ।
अतिहिं धरि विहुय तहो अणुराइय ।
तेंसि हि सक्खि करेवि विवाहिय ।

समालोचकजीने इस पद्यके अर्थमें लिखा है कि—"किसी समय शीलायुध राजा वहाँ वन क्रीडाके लिये आया वह [उसे] ऋषिदत्ताने देखा उन दोनोंमें परस्पर अनुराग हो गया और उन्होंने तेंसिको साक्षीकर विवाह कर लिया ।" साथही, यह प्रकट किया है कि 'तेंसि' का अर्थ हमें मिला नहीं, वह निःसंदेह कोई अचेतन पदार्थ जान पड़ता है जिसको साक्षी करके विवाह किया गया है ।'

यहाँ, मैं अपने पाठकोंको यह बतला देना चाहता हूं कि उक्त प्रश्नोत्तर वाला पद्य इस बातको प्रकट कर रहा अथवा माँग रहा है कि उससे पहले पद्यमें भोगका उल्लेख होना चाहिये, तब ही गर्भकी शंका और तद्विषयक प्रश्न बन सकता है । परंतु इस पद्यमें भोगका कोई उल्लेख न होकर केवल विवाहका उल्लेख है और विवाह मात्रसे यह लाज़िमी नहीं आता कि भोग भी उसी वक्त हुआ हो । मात्र विवाहके अनन्तर ही उक्त

प्रश्नोत्तरका होना बेढंगा मालूम होता है ऐसी हालतमें यहाँ 'विवाहिय' पदका जो प्रयोग पाया जाता है वह संदिग्ध जान पड़ता है। बहुत संभव है कि यह पद अशुद्ध हो और भोग किया, काम क्रीडाकी अथवा रमण किया, ऐसेही किसी अर्थके वाचक शब्दकी जगह लिखा गया हो। 'तेंसिहि सक्खि' पाठ भी अशुद्ध मालूम होता है—उसके अर्थका कहींसे भी कोई समर्थन नहीं होता। ऋषिदत्ताकी कथाको लिये हुए सबसे प्राचीन ग्रन्थ, जो अभी तक उपलब्ध हुआ है वह, जिनसेनाचार्यका हरिवंशपुराण ही है—काष्टासंघी यशःकीर्ति भट्टारकका प्राकृत हरिवंशपुराण उससे ६६० वर्ष बादका बना हुआ है—परन्तु उसमें तेंसि (?) की साक्षीसे तो क्या वैसे भी विवाह करनेका कोई उल्लेख नहीं है, जैसाकि ऊपर जाहिर किया जा चुका है। इसके सिवाय, भट्टारकजीने स्वयं यह सूचित किया है कि मेरे इस ग्रंथके शब्द-अर्थका सम्बंध जिनसेनाचार्यके शास्त्र (हरिवंशपुराण) से है। यथा :—

सद्द अत्थ संबंध फुरंतउ।
जिणसेणहो सुत्तहो यहु पयडिउ।

और जिनसेनाचार्यने साफ़ तौर पर विवाहका कोई उल्लेख न करके उक्त अवसर पर भोगका उल्लेख किया है और "अरीरमत्" पद दिया है। जिनसेनाचार्यके अनुसार अपने हरिवंश पुराणकी रचना करते हुए, ब्रह्मचारी जिनदासने भी वहाँ "बुभुजे" पदका प्रयोग किया है जिसका अर्थ होता है 'भोग किया' अथवा भोगा और इसलिये वह जिनसेनके 'अरीरमत्' पदके अर्थकाही द्योतक है। परन्तु यहाँ "करेवि विवाहिय" शब्दोंसे वह अर्थ नहीं निकलता, जिससे पाठके अशुद्ध होनेका खयाल और भी ज्यादह दृढ होता है। यदि वास्तवमें

पाठ अशुद्ध नहीं है, बल्कि भट्टारकजीने इसे इसी रूपमें लिखा है और वह ग्रन्थकी प्राचीन प्रतियोंमें भी ऐसेही पाया जाता है तो मुझे इस कहनेमें कोई संकोच नहीं होता कि भट्टारकजी ने जिनसेनाचार्यके शब्दोंका अर्थ समझने में गलती की और वे अपने ग्रन्थमें शब्द अर्थके सम्बंधको ठीक तौरसे व्यवस्थित नहीं कर सके—यह भी नहीं समझ सके कि विवाहके अनंतर उक्त प्रश्नोत्तर कितना बेढंगा और अप्राकृतिक जान पड़ता है। आपका ग्रन्थ है भी बहुत कुछ साधारण। इसके सिवाय, जब हमारे सामने मूलग्रंथ मौजूद है तब उसके आधार पर लिखे हुए सारांशों, आशयों, अनुवादों अथवा संक्षिप्त ग्रंथोंपर ध्यान देनेकी ऐसी कोई ज़रूरत भी नहीं है, वे उसी हद तक प्रमाण माने जा सकते हैं जहाँ तककि वे मूल गृथों के विरुद्ध नहीं हैं। उनके कथनोंको मूलगृथों पर कोई महत्व नहीं दिया जासकता। जिनसेनाचार्यने साफ़ सूचित किया है कि उन दोनोंके प्रेमने चिरपालित मर्यादाको भी तोड़ दिया था, वे एकान्तमें जाकर रमने लगे, भोगके अनन्तर ऋषिदत्ताको बड़ा भय मालूम हुआ, वह घबराई और उसे अपने गर्भकी फिकर पड़ी। शीलायुधके वंशादिकका परिचय भी उसे बादको ही मालूम पड़ा। ऐसी हालतमें विवाह होनेका तो खयालभी नहीं आ सकता। अस्तु।

इस सब कथन और विवेचनसे साफ ज़ाहिर है कि ऋषिदत्ता और शीलायुधका कोई विवाह नहीं हुआथा, उन्होंने वैसे ही काम पिशाचके वशवर्ती होकर भोग किया और इस लिये वह भोग व्यभिचार था। उससे उत्पन्न हुआ एणीपुत्र, एक दृष्टिसे शीलायुधका पुत्र होतेहुए भी, ऋषिदत्ताके साथ शीलायुधका विवाह न होनेसे, व्यभिचारजात था। उसकी दशा उस जारज पुत्र जैसी थी जो किसी जारसे उत्पन्नहोकर कालान्तरमें उसीको मिलजाय। अविवाहिता कन्यासे जो पुत्र

पैदा होता है उसे "कानीन" कहते हैं (कानीनः कन्यकाजातः; कन्यायां अनूढायां जातो वा), 'अनूढा पुत्र' भी उसका नामहै और वह व्यभिचारजातोंमें परिगणित हैं। 'पर्णीपुत्र' भी ऐसा ही 'कानीन' पुत्र था और इस लिये उसकी पुत्री प्रियंगुसुन्दरी' एक व्यभिचारजातकी, अनूढापुत्रकी अथवा कानीनकी पुत्री थी, जिसे आजकल की भाषामें दस्सा या गाटा भी कह सकते हैं। मालूम नहीं समालोचक जी को एक व्यभिचारजात या दस्सेकी पुत्रीसे विवाहकी बात पर क्यों इतना क्षोभ आया जिसके लिये बहुत कुछ यद्वातद्वा लिख कर समालोचनाके बहुतसे पेज रंगे गये हैं-जबकि साक्षात् व्यभिचारजात वेश्या-पुत्रियों तकसे विवाहके उदाहरण जैनशास्त्रोंमें पाये जाते हैं और जिनके कुछ नमूने ऊपर दिये जाचुके हैं। क्या जो लोग म्लेच्छकन्याओं तकसे विवाह करलेते थे उनके लिये एक दस्से या व्यभिचारजातकी आर्य कन्या भी कुछ गई बीती होसकती है? कदापि नहीं। आज कल यदि कोई वेश्यापुत्रीसे विवाह करले तो वह उसी दम जातिसे खारिज किया जाकर दस्सा या गाटा बना दिया जाय। साथमें उसके साथी और सहायक भी यदि दस्से बना दिये जायँ तो कुछ आश्चर्य नहीं। अतः आजकलकी दृष्टिमें जिन लोगोंने पहले वेश्याओंसे विवाह किये वे सब दस्से* होने चाहियें। ऋषिदत्ताके पिता अमोघदर्शनने

---

*दस्सा केवल व्यभिचारजात का ही नाम नहीं है बल्कि और भी कितने ही कारणोंसे 'दस्सा' संज्ञाका प्रयोग किया जाता है, और न सर्व व्यभिचारजात ही दस्सा कहलाते हैं क्योंकि कुंड संतान जो भर्तारके जीतजी और पास मौजूद होते हुए जारसे पैदा होती हैं वह व्यभिचारजात होते हुए भी दस्सा नहीं कहलाती।

भी अपने पुत्र चारुचंद्रका विवाह 'कामपताका' नामकी वेश्या-पुत्रीसे किया था, जिसके कथन को भी समालोचक जी कथा का पूर्णांश देते हुए छिपा गये ! और इसलिये ऋषिदत्ता दस्से की पुत्री और दस्सेकी बहन भी हुई। तब उसकी उक्त प्रकार से उत्पन्न हुई संतानको आज कलकी भाषामें दस्सेके सिवाय और क्या कहा जासकता है ? परन्तु पहले जमानेमें 'दस्से-बीसे' का कोई भेद नहीं था और न जैनशास्त्रोंमें इस भेदको कहीं कोई उल्लेख मिलता है। यह सब कल्पना बहुत पीछेकी है जबकि जनताके विचार बहुत कुछ संकीर्ण, स्वार्थमूलक और ईर्षा-द्वेष-परायण होगये थे। प्राचीन समयमें तो दो दो वेश्यापुत्रियोंसे भी विवाह करने वाले 'नागकुमार' जैसे पुरुष समाजमें अच्छी दृष्टिसे देखे जाते थे, नित्य भगवानका पूजन करते थे और जिनदीक्षाको धारण करके केवलज्ञान भी उत्पन्न कर सकते थे परन्तु आज इससे भी बहुत कमती हीन विवाह करलेने वालोंको जातिसे खारिज करके उनके धर्म-साधनके मार्गों को भी बन्द किया जाता है ! यह कितना भारी परिवर्तन है ! समयका कितना अधिक उलटफेर है !! और इससे समाज के भविष्यका चिन्तवन कर एक सहृदय व्यक्तिको कितना महान दुःख तथा कष्ट होता है !!!

यहाँ पर मैं समालोचक जीको इतना और भी बतला देना चाहता हूँ कि दस्सों और बीसोंमें परस्पर विवाहकी प्रथा सर्वथा बन्द नहीं है। हूमड आदि कई जैन जातियोंमें वह अब भी जारी है और उसका बराबर विस्तार होता जाताहै। बम्बई के सुप्रसिद्ध 'जैनकुल भूषण' सेठ माणिकचंद्र जी जे० पी०के भाई पानाचंद्रका विवाह भी एक दस्सेकी पुत्रीसे हुआथा। इस लिये आपको इस चिन्तासे मुक्त होजाना चाहिये कि यदि जैनजातिमें इस प्रथाका प्रवेश हुआ तो वह रसातलको चली

जायगी। दस्सोंसे विवाह करना आत्मपतनका अथवा आत्मोन्नतिमें बाधा पहुँचानेका कोई कारण नहीं होसकता। दस्सों में अच्छे अच्छे प्रतिष्ठित और धर्मात्माजन मौजूद हैं—वे बीसोंसे किसी बातमें भी कम नहीं हैं—उन्हें हीन दृष्टिसे देखना अथवा उनके प्रति असद्भाव रखना अपनी क्षुद्रता प्रकट करना है। अस्तु।

यह तो हुई तृतीय अंशके आक्षेपोंकी बात, अब उदाहरण का शेष चौथा अंश —'रोहिणीका स्वयंवर' भी लीजिये।

स्वयंवर–विवाह।

उदाहरणका यह चौथा अंश इस प्रकार लिखा गयाथा:—

" रोहिणी अरिष्टपुर के राजाकी लड़की और एक सुप्रतिष्ठित घराने की कन्या थी। इसके विवाहका स्वयंवर रचाया गया था, जिसमें जरासन्धादिक बड़े बड़े प्रतापी राजा दूर देशान्तरों से एकत्र हुए थे। स्वयंवरमण्डप में वसुदेवजी, किसी कारण विशेष से अपना वेष बदल कर 'पणव' नाम का वादित्र हाथ में लिये हुए एक ऐसे रङ्क तथा अकुलीन बाजन्त्री (बाजा बजाने वाला) के रूप में उपस्थित थे कि जिससे किसी को उस वक्त वहाँ उनके वास्तविक कुल, जाति आदि का कुछ भी पता मालूम नहीं था। रोहिणी ने सम्पूर्ण उपस्थित राजाओं तथा राजकुमारों को प्रत्यक्ष देखकर और उनके वंश तथा गुणादिका परिचय पाकर भी जब उनमें से किसीको भी अपने योग्य वर पसंद नहीं किया तब उसने, सब लोगोंको आश्चर्य में डालते हुए, बड़े ही निःसंकोच भावसे उक्त बाजन्त्री रूप के धारक एक अपरिचित और अज्ञात-कुल-जाति नामा-व्यक्ति (वसुदेव) के गले में ही अपनी वरमाला डाल दी।

रोहिणी के इस कृत्य पर कुछ ईर्षालु, मानी और मदान्ध राजा, अपना अपमान समझकर, कुपित हुए और रोहिणीके पिता तथा वसुदेव से लड़ने के लिये तैयार हो गये। उस समय विवाहनीति का उल्लंघन करने के लिये उद्यमी हुए उन कुपितानन राजाओंको सम्बोधन करके, वसुदेवजीने बड़ी तेजस्विताके साथ जो वाक्य कहे थे उनमेंसे स्वयंवर-विवाहके नियमसूचक कुछ वाक्य इस प्रकार हैं :—

कन्या वृणीते रुचितं स्वयंवरगता वरं।
कुलीनमकुलीनं वा क्रमो नास्ति स्वयंवरे॥
—सर्ग ११, श्लोक ७१।

अर्थात्—स्वयंवरको प्राप्त हुई कन्या उस वरको वरण(स्वीकार) करती है जो उसे पसन्द होता है, चाहे वह वर कुलीन हो या अकुलीन। क्योंकि स्वयंवरमें इस प्रकारका—वरके कुलीन या अकुलीन होनेका—कोई नियम नहीं होता। ये वाक्य सकलकीर्ति आचार्य्यके शिष्य श्रीजिनदास ब्रह्मचारीने अपने हरिवंशपुराणमें उद्धृत किये हैं और श्रीजिनसेनाचार्य्य-कृत हरिवंशपुराणमें भी प्रायः इसी आशयके वाक्य पाये जाते हैं। वसुदेवजी के इन वचनों से उनकी उदार परिणति और नीतिज्ञताका अच्छा परिचय मिलता है, और साथ ही स्वयंवर-विवाह की नीतिका भी बहुत कुछ अनुभव हो जाता है। वह स्वयंवर-विवाह, जिसमें वरके कुलीन या अकुलीन होने का कोई नियम नहीं होता, वह विवाह है जिसे आदिपुराणमें 'सनातनमार्ग' लिखा है और सम्पूर्ण विवाह विधानों में सबसे अधिक श्रेष्ठ (वरिष्ठ) विधान प्रकट किया है*। युगकी आदिमें सबसे पहले

*यथा:—सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः
विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो हि स्वयंवरः ॥४४-३२॥

जब राजा अकम्पन-द्वारा इस (स्वयंवर) विवाह का अनुष्ठान हुआ था तब भरत चक्रवर्तीने भी इसका बहुत कुछ अभिनन्दन किया था। साथ ही, उन्होंने ऐसे सनातन मार्गोंके पुनरुद्धार-कर्त्ताओं को सत्पुरुषों द्वारा पूज्य भी ठहराया था ×।"

उदाहरणके इस अंशपर सिर्फ तीन खास आपत्तियाँ की गई हैं जिनका सारांश इस प्रकार है:—

(१) एक बाजंत्रीके रूपमें उपस्थित होने पर वसुदेवको "रंक तथा अकुलीन" क्यों लिखा गया। "क्या बाजे बजाने वाले सब अकुलीन ही होते हैं? बड़े बड़े राजे और महाराजे तक भी बाजे बजाया करते हैं।" ये रंक तथा अकुलीनके शब्द अपनी तरफ़से जोड़े गये हैं। वसुदेवजी अपने वेषको छिपाये हुए ज़रूर थे "किन्तु इस वेषके छिपानेसे उन पर कंगाल या अकुलीनपना लागू नहीं होता।"

(२) "यह बाबूजीका लिखना कि "रोहिणीनें बड़े ही निःसंकोच भावसे बाजंत्री रूपके धारक अज्ञात कुलजाति रङ्क व्यक्तिके गलेमें माला डालदी" सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है"।

(३) "जो श्लोकका प्रमाण दिया वह वसुदेवजीने क्रोधमें कहा है किसी आचार्य ने आज्ञारूप नहीं कहा जो प्रमाण हो,"।

इनमेंसे पहली आपत्तिकी बाबत तो सिर्फ इतना ही निवेदन है कि लेखक ने कहीं भी वसुदेवको रंक तथा अकुलीन नहीं लिखा और न यही प्रतिपादन किया कि उनपर कंगाल या

× यथाः—तथा स्वयंवरस्येमे नाभूवन्यद्यकम्पनाः।
क: प्रवर्त्तयितान्योऽस्य मार्गस्यैष सनातनः ॥४४॥
मार्गाश्चिरंतनान्येऽत्र भोगभूमितिरोहितान्।
कुर्वन्ति नूतनान्सन्तः सद्भिः पूज्यास्त एव हि ॥५५॥
—आ० पु० पर्व ४५।

अकुलीनपना लागू होता है। 'कंगाल' शब्दका तो प्रयोग भी उदाहरण भरमें कहीं नहीं है और इसलिये उसे समालोचकजीकी अपनी करतूत समझना चाहिये। लेखक ने जिसके लिये रंक तथा अकुलीन शब्दोंका प्रयोग किया है वह वसुदेवजीका तात्कालीन वेष था, नकि स्वयं वसुदेवजी, और यह बात ऊपरके उदाहरणांशसे स्पष्ट ज़ाहिर है। वेषकी बातको व्यक्तित्व में घटा लेना कोरी भूल है। यह ठीक है कि कभी कभी कोई राजा महाराजा भी अपने दिल बहलावके लिये बाजा बजा लेते हैं परन्तु उनका वह विनोदकर्म प्रायः एकान्तमें होता है—सर्व साधारण सभा-सोसाइटियों अथवा महोत्सवोंके अवसर पर नहीं— और उससे वे 'पाणविक'—बाजंत्री—नहीं कहलाते। वसुदेवजी, अपना वेष बदल कर 'पणव' नामका वादित्र हाथमें लिये हुए, साफ़ तौर पर एक पाणविकके रूपमें वहाँ (स्वयंवर मंडपमें) उपस्थित थे—राजाके रूपमें नहीं—और पाणविकों को- बाजंत्रियोंकी-श्रेणिके भी अन्तमें बैठे हुए थे, जैसाकि जिनसेनके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

*वसुदेवोऽपि तत्रैव आत्तलक्षितवेषभृत्।

---

*इसी पद्यको जिनदास ब्रह्मचारीने निम्नप्रकारसे बदल कर रक्खा है :—

आत्तलक्षितवेषोपि तत्रैव यदुनन्दनः।
गृहीतपणवस्तस्थौ मध्ये सर्वकलाविदां॥

यहाँ 'सर्वकलाविदां' पद वादित्र-विद्याकी सर्वकलाओंके जानने वाले पाणविकोंके लिये प्रयुक्त हुआ है। जिनदासने वसुदेवको उन पाणविकों बाजंत्रियोंके अन्तमें न बिठलाकर मध्यमें बिठलाया है, यही भेद है और वह कुछ उचित मालूम नहीं होता। उस वक्तकी स्थितिको देखते हुए एक अपरिचित और अनिमं-

तस्थौ पाणविकांतस्थो गृहीतपणवो गृही: (?) ॥

उनके इस वेषके कारण ही बहुतसे राजा उन्हें 'पाणविक वर' कहने के लिये समर्थ होसके थे और यह कहसके थे कि 'कन्याने बड़ा अन्याय किया जो एक बाजंत्रीको वर बनाया' । यथा:—

मात्सर्योपहताश्चान्ये जगुः पाणविकं वरं ।
कुर्वत्या पश्यतात्यंतमन्यायः कन्यया कृतः ॥४८॥

बाजंत्रीके रूपमें उपस्थित होने की वजहसे ही उन ईर्षालु राजाओंको यह कहनेका भी मौका मिला कि यह अकुलीन है, कोई नीच वंशी (कोपि नीचान्वयोद्भवः) है, अन्यथा यह अपना कुल प्रकट करे; क्योंकि उस समय बाजा बजानेका काम या पेशा करने वाले शूद्र तथा अकुलीन समझे जाते थे। ऐसी हालतमें वसुदेवके उक्त वेषको रंक तथा अकुलीन कहना कुछ भी अनुचित नहीं जान पड़ता। समालोचकजी स्वयं इस बातको स्वीकार करते हैं कि प्रतिस्पर्धी राजाओंने वसुदेवको रंक तथा अकुलीन कहा था*। और उनके इस कथनका जैन शास्त्रोंमें उल्लेख भी मानते है, फिर उनका यह कहना कहाँ तक ठीक हो सकता है कि लेखकने इन शब्दोंको अपनी तरफ़से जोड़ दिया, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। साथ ही, इस बातका भी अनुभव कर सकते हैं कि समालोचकजीने जो यह कल्पना की है कि स्वयंवर-मंडपमें राजाओंके सिवाय कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता था और इसलिये बाजा बाजाने वाले भी वहाँ राजा

त्रित व्यक्तिके रूपमें वसुदेवका पाणविकोंके अन्तमें--पीछेकी ओर—बैठ जाना या खड़ा रहना ही उचित जान पड़ता है।

*यथा:—"रङ्क और अकुलीन तो केवल प्रतिस्पर्धी राजाओं ने स्पर्धावश बतौर अपशब्दोंके कहा है"।

ही होते थे, वसुदेवजी उन्हीं बाजा बजाने वाले राजाओंमें जाकर बैठ गये थे* वह कितनी विलक्षण तथा निःसार मालूम होती है। आपने राजाओंको अच्छा 'पाणत्रिक' बनाया और उन्हें खूब वाजंत्रीका काम दिया! और एक वाजंत्री ही का काम क्या, जब स्वयंवरमें राजाओं तथा राजकुमारों के सिवाय दूसरेका प्रवेश ही नहीं होता था तबतो यह कहना चाहिये कि पानी पिलाने, जूठे बर्तन उठाने और पंखा झोलने आदि दूसरे सेवा चाकरीके कामोंमें भी वहाँ राजा लोगही नियुक्त थे! यह आगन्तुक राजाओंका अच्छा सम्मान हुआ! मालूम नहीं रोहिणी के पिताके पास ऐसी कौन सी सत्ता थी जिससे वह कन्याका पाणिग्रहण करने की इच्छासे आए हुए राजाओंको ऐसे शूद्र कर्मोंमें लगा सकता! जान पड़ता है यह सब समालोचकजीकी कोरी कल्पनाही कल्पना है,वास्तविकतासे इसका कोई सम्बंध नहीं। ऐसे महोत्सवके अवसर पर आगन्तुक जनोंके विनोदार्थ और मांगलिक कार्योंके सम्पादनार्थ गाने बजानेका काम प्रायः दूसरे लोगही किया करते हैं, जिनका वह पेशा होता है— स्वयंवरोत्सवकी रीति नीति, इस विषयमें, उनसे कोई भिन्न नहीं होती। इसके सिवाय, समालोचकजी एक स्थान पर लिखते हैं:—

"रोहिणीने जिस समय स्वयंवरमण्डपहैं किसी राजाको नहीं वरा और धायसे बात चीत कर रहोथी उस समय मनोहर वीणाका शब्द सुनाई पड़ा"।

---

*यथा:—"स्वयंवर मंडपमें सब राजाही लोग आया करते थे और जो इस योग्य हुआ करते थे उन्हींको स्वयंवर मंडप में प्रवेश किया जाता था।" "उन्होंने [वसुदेवने] स्वयंवर मंडपमें प्रवेश किया और जहाँ ऐसे राजा बैठे हुए थे जोकि वादित्र-विद्याविशारद थे उन्होंमें जाकर बैठ गए।"

इससे भी यह साफ़ ज़ाहिर होता है कि स्वयंवरमंडप में वसुदेव जी एक राजाकी हैसियत से अथवा राजाके वेषमें उपस्थित नहींथे और इसीसे 'रोहिणीने स्वयंवरमंडपमें किसी राजाको नहीं वरा' इन शब्दोंका प्रयोग होसका है। स्वयंवर-मंडपमें स्थित जब सब राजाओंका परिचय दिया जा चुका था और रोहिणीने उनमें से किसीको भी अपना वर पसंद नहीं किया था तभी वसुदेवजीने वीणा बजाकर रोहिणीकी चित्तवृत्ति को अपनी ओर आकर्षित किया था। अतः समालोचकजीकी इस कल्पना और आपत्तिमें कुछ भी दम मालूम नहीं होता।

दूसरी आपत्तिके विषयमें, यद्यपि, अब कुछ विशेष लिखने की जरूरत बाकी नहीं रहती, फिर भी यहाँ पर इतना प्रकट करदेना उचित मालूम होता है कि समालोचक जी ने उसमें लेखकका जो वाक्य दियाहै वह कुछ बदल कर रक्खा है उस में 'अज्ञातकुल जाति' के बाद 'रङ्क' शब्द अपनी ओरसे बढाया है और उससे पहले 'एक अपरिचित' आदि शब्दोंको निकाल दिया है। इसी प्रकारका और भी कुछ उलटफेर किया है जो ऊपर उद्धृत किये हुए उदाहरणांश परसे सहज ही में जाना जासकता है। मालूम नहीं इस उलटा पलटीसे समालोचकजी ने क्या नतीजा निकाला है। शायद इस प्रकारके प्रयत्न-द्वारा ही आप लेखकके लिखनेको "सर्वथा शास्त्रविरुद्ध" सिद्ध करना चाहते हों! परन्तु ऐसे प्रयत्नोंसे क्या होसकता है? समालो-चकजीने कहीं भी यह सिद्ध करके नहीं बतलाया कि वरमाला डालनेके वक्त वसुदेवजी एक अपरिचित और अज्ञातकुल-जाति व्यक्ति नहीं थे। जिनसेनाचार्यने तो वरमाला डालनेके बाद भी आपको "कोऽपिगुप्तकुलः" विशेषणके द्वारा उल्लेखित किया है औरत दनुसार जिनदास ब्रह्मचारीने भी आपके लिये "कोपिगूढ कुलः" विशेषणका प्रयोग किया है,जिससे जाहिर है कि उनका

कुल वहाँ किसीको मालूम नहीं था। वसुदेव जीके कुलीन या अकुलीन होनेका राजाओंमें विवाद भी उपस्थित हुआथा और उसका निर्णय उस वक्तसे पहले नहीं होसका जब तक कि युद्धमें वसुदेवने समुद्रविजयको अपना परिचय नहीं दिया। इससे स्पष्ट है कि वरमाला डालनेके वक्त वसुदेवसे कोई परिचित नहीं था, न वहाँ उनके कुल जातिका किसीको कुछ हाल मालूम था; और वे एक बाजंत्री (पाणविक) के वेषमें उपस्थित थे, यह बात ऊपर बतलाई ही जा चुकी है। उसी बाजंत्री वेष में उनके गलेमें वरमाला डाली गई और वरमालाको डाल कर रोहिणी, सबोंको आश्चर्यमें डालते हुए, उन्हींके पास बैठ गई। ऐसी हालतमें लेखकका उक्त लिखना किधरसे सर्वथा शास्त्र-विरुद्ध है इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। हाँ, समालोचक जीने इतना ज़रूर प्रकट किया है कि वसुदेवने वीणा बजाकर रोहिणीको यह संकेत कियाथा कि "तेरे मनको हरण करने वाला राजहंस यहाँ बैठा हुआ है" इस संकेत मात्रका अर्थ ज्यादासे ज्यादा इतना ही होसकता है कि रोहिणीके दिलमें यह खयाल पैदा होगया हो कि वह कोई राजा अथवा राजपुत्र है। परन्तु राजा तो म्लेच्छ भी होते हैं, अकुलीन भी होते हैं, सगोत्र भी होते हैं, विजातीय भी होते हैं और असवर्ण भी होते हैं। जब इन सब बातोंका कोई निर्णय नहीं किया गया और वरमाला एक अपरिचित तथा अज्ञातकुल जाति व्यक्तिके ही गलेमें—चाहे वह राजलक्षणोंसे मंडित या अपने मुखमंडल परसे अनुमानित होने वाला राजा ही क्यों न हो—डाल दी गई तबतो यही कहना चाहिये कि स्वयंवर में एक अकुलीन, सगोत्र, विजातीय अथवा असवर्णको भी वरा जा सकता है। फिर समालोचक जी की जिनदास ब्रह्मचारीके उक्त श्लोक पर आपत्ति कैसी? उसमें तो यही बतलाया

जब राजा अकम्पन-द्वारा इस (स्वयंवर) विवाह का अनुष्ठान हुआ था तब भरत चक्रवर्तीने भी इसका बहुत कुछ अभिनन्दन किया था। साथ ही, उन्होंने ऐसे सनातन मार्गोंके पुनरुद्धार-कर्त्ताओं को सत्पुरुषों द्वारा पूज्य भी ठहराया था ×।"

उदाहरणके इस अंशपर सिर्फ तीन खास आपत्तियाँ की गई हैं जिनका सारांश इस प्रकार है:—

(१) एक बाजंत्रीके रूपमें उपस्थित होने पर वसुदेवको "रंक तथा अकुलीन" क्यों लिखा गया। "क्या बाजे बजाने वाले सब अकुलीन ही होते हैं? बड़े बड़े राजे और महाराजे तक भी बाजे बजाया करते हैं।" ये रंक तथा अकुलीनके शब्द अपनी तरफ़से जोड़े गये हैं। वसुदेवजी अपने वेषको छिपाये हुए ज़रूर थे "किन्तु इस वेषके छिपानेसे उन पर कंगाल या अकुलीनपना लागू नहीं होता।"

(२) "यह बाबूजीका लिखना कि "रोहिणीने बड़े ही निःसंकोच भावसे बाजंत्री रूपके धारक अज्ञात कुलजाति रङ्क व्यक्तिके गलेमें माला डालदी" सर्वथा शास्त्र विरुद्ध है"।

(३) "जो श्लोकका प्रमाण दिया वह वसुदेवजीने क्रोधमें कहा है किसी आचार्य ने आज्ञारूप नहीं कहा जो प्रमाण हो,"।

इनमेंसे पहली आपत्तिकी बाबत तो सिर्फ इतना ही निवेदन है कि लेखक ने कहीं भी वसुदेवको रंक तथा अकुलीन नहीं लिखा और न यही प्रतिपादन किया कि उनपर कंगाल या

× यथाः—तथा स्वयंवरस्येमे नाभूवन्यद्यकम्पनाः।
क: प्रवर्त्तयितान्योऽस्य मार्गस्यैष सनातनः॥४५॥
मार्गांश्चिरंतनान्येऽत्र भोगभूमितिरोहितान्।
कुर्वन्ति नूतनान्सन्तः सद्भिः पूज्यास्त एव हि॥५५॥
—आ० पु० पर्व ४५।

अकुलीनपना लागू होता है। 'कंगाल' शब्दका तो प्रयोग भी उदाहरण भरमें कहीं नहीं है और इसलिये उसे समालोचकजीकी अपनी करतूत समझना चाहिये। लेखक ने जिसके लिये रंक तथा अकुलीन शब्दोंका प्रयोग किया है वह वसुदेवजीका तात्कालीन वेष था, नकि स्वयं वसुदेवजी, और यह बात ऊपरके उदाहरणांशसे स्पष्ट ज़ाहिर है। वेषकी बातको व्यक्तित्व में घटा लेना कोरी भूल है। यह ठीक है कि कभी कभी कोई राजा महाराजा भी अपने दिल बहलावके लिये बाजा बजा लेते हैं परन्तु उनका वह विनोदकर्म प्रायः एकान्तमें होता है—सर्व साधारण सभा-सोसाइटियों अथवा महोत्सवोंके अवसर पर नहीं—और उससे वे 'पाणविक'—बाजंत्री—नहीं कहलाते। वसुदेवजी, अपना वेष बदल कर 'पणव' नामका वादित्र हाथमें लिये हुए, साफ़ तौर पर एक पाणविकके रूपमें वहाँ (स्वयंवर मंडपमें) उपस्थित थे—राजाके रूपमें नहीं—और पाणविकों की—बाजंत्रियोंकी-श्रेणिके भी अन्तमें बैठे हुए थे, जैसाकि जिनसेनके निम्न वाक्यसे प्रकट है:—

*वसुदेवोऽपि तत्रैव भ्रात्रलक्षितवेषभृत्।

---

*इसी पद्यको जिनदास ब्रह्मचारीने निम्नप्रकारसे बदल कर रक्खा है:—

भ्रात्रलक्षितवेषोपि तत्रैव यदुनन्दनः।
गृहीतपणवस्तस्थौ मध्ये सर्वकलाविदां॥

यहाँ 'सर्वकलाविदां' पद वादित्र-विद्याकी सर्वकलाओंके जानने वाले पाणविकोंके लिये प्रयुक्त हुआ है। जिनदासने वसुदेवको उन पाणविकों-बाजंत्रियोंके अन्तमें न बिठलाकर मध्यमें बिठलाया है, यही भेद है और वह कुछ उचित मालूम नहीं होता। उस वक्तकी स्थितिको देखते हुए एक अपरिचित और अनिमं-

जायगी। दस्सोंसे विवाह करना आत्मपतनका अथवा आत्मोन्नतिमें बाधा पहुँचानेका कोई कारण नहीं होसकता। दस्सों में अच्छे अच्छे प्रतिष्ठित और धर्मात्माजन मौजूद हैं—वे बीसोंसे किसी बातमें भी कम नहीं हैं—उन्हें हीन दृष्टिसे देखना अथवा उनके प्रति असद्भाव रखना अपनी क्षुद्रता प्रकट करना है। अस्तु।

यह तो हुई तृतीय अंशके आक्षेपोंकी बात, अब उदाहरण का शेष चौथा अंश —'रोहिणीका स्वयंवर' भी लीजिये।

स्वयंवर-विवाह।

उदाहरणका यह चौथा अंश इस प्रकार लिखा गयाथाः—

"रोहिणी अरिष्टपुर के राजाकी लड़की और एक सुप्रतिष्ठित घराने की कन्या थी। इसके विवाहका स्वयंवर रचाया गया था, जिसमें जरासन्धादिक बड़े बड़े प्रतापी राजा दूर देशान्तरों से एकत्र हुए थे। स्वयंवरमण्डप में वसुदेवजी, किसी कारण विशेष से अपना वेष बदल कर 'पणव' नाम का वादित्र हाथ में लिये हुए एक ऐसे रङ्क तथा अकुलीन बाजन्त्री (बाजा बजाने वाला) के रूप में उपस्थित थे कि जिससे किसी को उस वक्त वहाँ उनके वास्तविक कुल, जाति आदि का कुछ भी पता मालूम नहीं था। रोहिणी ने सम्पूर्ण उपस्थित राजाओं तथा राजकुमारों को प्रत्यक्ष देखकर और उनके वंश तथा गुणादिका परिचय पाकर भी जब उनमें से किसीको भी अपने योग्य वर पसंद नहीं किया तब उसने, सब लोगोंको आश्चर्य में डालते हुए, बड़े ही निःसंकोच भावसे उक्त बाजन्त्री रूप के धारक एक अपरिचित और अज्ञात-कुल-जाति नामा-व्यक्ति (वसुदेव) के गले में ही अपनी वरमाला डाल दी।

रोहिणी के इस कृत्य पर कुछ ईर्षालु, मानी और मदान्ध राजा, अपना अपमान समझकर, कुपित हुए और रोहिणीके पिता तथा वसुदेव से लड़ने के लिये तैयार हो गये। उस समय विवाहनीति का उल्लंघन करने के लिये उद्यमी हुए उन कुपितानन राजाओंको सम्बोधन करके, वसुदेवजीने बड़ी तेजस्विताके साथ जो वाक्य कहे थे उनमेंसे स्वयंवर-विवाहके नियमसूचक कुछ वाक्य इस प्रकार हैं :—

कन्या वृणीते रुचितं स्वयंवरगता वरं ।
कुलीनमकुलीनं वा क्रमो नास्ति स्वयंवरे ॥
—सर्ग ११, श्लोक ७१ ।

अर्थात्—स्वयंवरको प्राप्त हुई कन्या उस वरको वरण(स्वीकार) करती है जो उसे पसन्द होता है, चाहे वह वर कुलीन हो या अकुलीन । क्योंकि स्वयंवरमें इस प्रकारका—वरके कुलीन या अकुलीन होनेका—कोई नियम नहीं होता। ये वाक्य सकलकीर्ति आचार्य्यके शिष्य श्रीजिनदास ब्रह्मचारीने अपने हरिवंशपुराणमें उद्धृत किये हैं और श्रीजिनसेनाचार्य्य-कृत हरिवंशपुराणमें भी प्रायः इसी आशयके वाक्य पाये जाते हैं। वसुदेवजी के इन वचनों से उनकी उदार परिणति और नीतिज्ञताका अच्छा परिचय मिलता है, और साथ ही स्वयंवर-विवाह की नीतिका भी बहुत कुछ अनुभव हो जाता है। वह स्वयंवर-विवाह, जिसमें वरके कुलीन या अकुलीन होने का कोई नियम नहीं होता, वह विवाह है जिसे आदिपुराणमें 'सनातनमार्ग' लिखा है और सम्पूर्ण विवाह विधानों में सबसे अधिक श्रेष्ठ (वरिष्ठ) विधान प्रकट किया है*। युगकी आदिमें सबसे पहले

*यथा:—सनातनोऽस्ति मार्गोऽयं श्रुतिस्मृतिषु भाषितः
विवाहविधिभेदेषु वरिष्ठो हि स्वयंवरः ॥४४-३२॥

इससे भी यह साफ़ ज़ाहिर होता है कि स्वयंवरमंडप में वसुदेव जी एक राजाकी हैसियत से अथवा राजाके वेषमें उपस्थित नहींथे और इसीसे 'रोहिणीने स्वयंवरमंडपमें किसी राजाको नहीं वरा' इन शब्दोंका प्रयोग होसका है। स्वयंवर-मंडपमें स्थित जब सब राजाओंका परिचय दिया जा चुका था और रोहिणीने उनमें से किसीको भी अपना वर पसंद नहीं किया था तभी वसुदेवजीने वीणा बजाकर रोहिणीकी चित्तवृत्ति को अपनी ओर आकर्षित किया था। अतः समालोचकजीकी इस कल्पना और आपत्तिमें कुछ भी दम मालूम नहीं होता।

दूसरी आपत्तिके विषयमें, यद्यपि, अब कुछ विशेष लिखने की जरूरत बाकी नहीं रहती, फिर भी यहाँ पर इतना प्रकट करदेना उचित मालूम होता है कि समालोचक जी ने उसमें लेखकका जो वाक्य दियाहै वह कुछ बदल कर रक्खा है उस में 'अज्ञातकुल जाति' के बाद 'रङ्क' शब्द अपनी ओरसे बढाया है और उससे पहले 'एक अपरिचित' आदि शब्दोंको निकाल दिया है। इसी प्रकारका और भी कुछ उलटफेर किया है जो ऊपर उद्धृत किये हुए उदाहरणांश परसे सहज ही में जाना जासकता है। मालूम नहीं इस उलटा पलटीसे समालोचकजी ने क्या नतीजा निकाला है। शायद इस प्रकारके प्रयत्न द्वारा ही आप लेखकके लिखनेको "सर्वथा शास्त्रविरुद्ध" सिद्ध करना चाहते हों! परन्तु ऐसे प्रयत्नोंसे क्या होसकता है? समालो-चकजीने कहीं भी यह सिद्ध करके नहीं बतलाया कि वरमाला डालनेके वक्त वसुदेवजी एक अपरिचित और अज्ञातकुल-जाति व्यक्ति नहीं थे। जिनसेनाचार्यने तो वरमाला डालनेके बाद भी आपको "कोऽपिगुप्तकुलः" विशेषणके द्वारा उल्लेखित किया है औरत दनुसार जिनदास ब्रह्मचारीने भी आपके लिये "कोपिगूढ कुलः" विशेषणका प्रयोग किया है,जिससे जाहिर है कि उनका

कुल वहाँ किसीको मालूम नहीं था। वसुदेव जीके कुलीन या अकुलीन होनेका राजाओंमें विवाद भी उपस्थित हुआथा और उसका निर्णय उस वक्तसे पहले नहीं होसका जब तक कि युद्धमें वसुदेवने समुद्रविजयको अपना परिचय नहीं दिया। इससे स्पष्ट है कि वरमाला डालनेके वक्त वसुदेवसे कोई परिचित नहीं था, न वहाँ उनके कुल जातिका किसीको कुछ हाल मालूम था; और वे एक बाजंत्री (पाणविक) के वेषमें उपस्थित थे, यह बात ऊपर बतलाई ही जा चुकी है। उसी बाजंत्री वेष में उनके गलेमें वरमाला डाली गई और वरमालाको डाल कर रोहिणी, सबोंको आश्चर्यमें डालते हुए, उन्हींके पास बैठ गई। ऐसी हालतमें लेखकका उक्त लिखना किधरसे सर्वथा शास्त्र-विरुद्ध है इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। हाँ, समालोचक जीने इतना ज़रूर प्रकट किया है कि वसुदेवने वीणा बजाकर रोहिणीको यह संकेत कियाथा कि "तेरे मनको हरण करने वाला राजहंस यहाँ बैठा हुआ है" इस संकेत मात्रका अर्थ ज्यादासे ज्यादा इतना ही होसकता है कि रोहिणीके दिलमें यह खयाल पैदा होगया हो कि वह कोई राजा अथवा राजपुत्र है। परन्तु राजा तो म्लेच्छ भी होते हैं, अकुलीन भी होते हैं, सगोत्र भी होते हैं, विजातीय भी होते हैं और असवर्ण भी होते हैं। अब इन सब बातोंका कोई निर्णय नहीं किया गया और वरमाला एक अपरिचित तथा अज्ञातकुल जाति व्यक्तिके ही गलेमें—चाहे वह राजलक्षणोंसे मंडित या अपने मुखमंडल परसे अनुमानित होने वाला राजा ही क्यों न हो—डाल दी गई तबतो यही कहना चाहिये कि स्वयंवर में एक अकुलीन, सगोत्र, विजातीय अथवा असवर्णको भी वरा जा सकता है। फिर समालोचक जी को जिनदास ब्रह्मचारीके उक्त श्लोक पर आपत्ति कैसी? उसमें तो यही बतलाया

तस्थौ पाणविकांतस्थो गृहीतपणवो गृही: (?) ॥

उनके इस वेषके कारण ही बहुतसे राजा उन्हें 'पाणविक वर' कहने के लिये समर्थ होसके थे और यह कहसके थे कि 'कन्याने बड़ा अन्याय किया जो एक बाजंत्रीको वर बनाया'। यथा:—

मात्सर्योपहताश्चान्ये जगुः पाणविकं वरं ।
कुर्वंत्या पश्यतात्यंतमन्यायः कन्यया कृतः ॥४८॥

बाजंत्रीके रूपमें उपस्थित होने की वजहसे ही उन ईर्षालु राजाओंको यह कहनेका भी मौका मिला कि यह अकुलीन है, कोई नीच वंशी (कोपि नीचान्वयोद्भवः)है, अन्यथा यह अपना कुल प्रकट करे; क्योंकि उस समय बाजा बजानेका काम या पशा करने वाले शूद्र तथा अकुलीन समझे जाते थे। ऐसी हालतमें वसुदेवके उक्त वेषको रंक तथा अकुलीन कहना कुछ भी अनुचित नहीं जान पड़ता। समालोचकजी स्वयं इस बातको स्वीकार करते हैं कि प्रतिस्पर्धी राजाओंने वसुदेवको रंक तथा अकुलीन कहा था*। और उनके इस कथनका जैन शास्त्रोंमें उल्लेख भी मानते है, फिर उनका यह कहना कहाँ तक ठीक हो सकता है कि लेखकने इन शब्दोंको अपनी तरफ़से जोड़ दिया, इसे पाठक स्वयं समझ सकते हैं। साथ ही, इस बातका भी अनुभव कर सकते हैं कि समालोचकजीने जो यह कल्पना की है कि स्वयंवर-मंडपमें राजाओंके सिवाय कोई दूसरा प्रवेश नहीं कर सकता था और इसलिये बाजा बाजाने वाले भी वहाँ राजा

त्रित व्यक्तिके रूपमें वसुदेवका पाणविकोंके अन्तमें--पीछेकी ओर--बैठ जाना या खड़े रहना ही उचित जान पड़ता है।

*यथा:—"रङ्क और अकुलीन तो केवल प्रतिस्पर्धी राजाओं ने स्पर्धावश बतौर अपशब्दोंके कहा है"।

ही होते थे, वसुदेवजी उन्हीं बाजा बजाने वाले राजाओंमें जाकर बैठ गये थे* वह कितनी विलक्षण तथा निःसार मालूम होती है। आपने राजाओंको अच्छा 'पाणविक' बनाया और उन्हें खूब वाजंत्रीका काम दिया ! और एक वाजंत्री ही का काम क्या, जब स्वयंवरमें राजाओं तथा राजकुमारों के सिवाय दूसरेका प्रवेश ही नहीं होता था तबतो यह कहना चाहिये कि पानी पिलाने, जूठे बर्तन उठाने और पंखा झोलने आदि दूसरे सेवा चाकरीके कामोंमें भी वहाँ राजा लोगही नियुक्त थे ! यह आगन्तुक राजाओंका अच्छा सम्मान हुआ ! मालूम नहीं रोहिणी के पिताके पास ऐसी कौन सी सत्ता थी जिससे वह कन्याका पणिग्रहण करने की इच्छासे आए हुए राजाओंको ऐसे शूद्र कर्मोंमें लगा सकता ! जान पड़ता है यह सब समालोचकजीकी कोरी कल्पनाही कल्पना है, वास्तविकतासे इसका कोई सम्बंध नहीं। ऐसे महोत्सवके अवसर पर आगन्तुक जनोंके विनोदार्थ और मांगलिक कार्योंके सम्पादनार्थ गाने बजानेका काम प्रायः दूसरे लोगही किया करते हैं, जिनका वह पेशा होता है— स्वयंवरोत्सवकी रीति नीति, इस विषयमें, उनसे कोई भिन्न नहीं होती। इसके सिवाय, समालोचकजी एक स्थान पर लिखते हैं:—

"रोहिणीने जिस समय स्वयंवरमण्डपमें किसी राजाको नहीं वरा और धायसे बात चीत कर रहीथी उस समय मनोहर वीणाका शब्द सुनाई पड़ा"।

---

*यथाः—"स्वयंवर मंडपमें सब राजाही लोग आया करते थे और जो इस योग्य हुआ करते थे उन्हींको स्वयंवर मंडप में प्रवेश किया जाता था।" "उन्होंने [वसुदेवने] स्वयंवरमंडपमें प्रवेश किया और जहाँ ऐसे राजा बैठे हुए थे जोकि वादित्र-विद्याविशारद थे उन्होंमें आकर बैठ गए।"

ऐसा कोई प्रमाण नहीं मिलता जिससे यह मालूम होता हो कि पहले एक नगर-ग्रामके निवासी आपसमें विवाह सम्बंध नहीं किया करते थे। और यदि कहीं ऐसा होता भी हो तो आजकल अब वह प्रथा नहीं रही और एक ही नगर ग्रामके निवासी खंडेलवाल परस्परमें विवाह सम्बन्ध कर लेते हैं तब उनके लिये एक ही नगर-ग्रामके निवासियों से बने हुए अपने एक गोत्रमें विवाह सम्बन्ध करलेने पर, सिद्धान्तकी दृष्टिसे कौन बाधा आती है अथवा उसका न करना कहाँ तक युक्ति-युक्त हो सकता है, इसका विचार पाठकजन स्वयं करसकते हैं।

(३) 'जैनसंप्रदाय शिक्षा *' में यति श्रीपालचंद्रजीने ओसवाल वंशकी उत्पत्तिका जो इतिहास दियाहै उससे मालूम होता है कि रत्नप्रभसूरि ने, 'महाजन वंश' की स्थापना करते हुए, 'तातहड' आदि अठारह गोत्र और 'सुघड' आदि बहुतसे नये गोत्र स्थापित किये थे। और उनके पीछे वि० सं० सोलहसौ तक बहुतसे जैनाचार्योंने राजपूत, महेश्वरी, वैश्य, और ब्राह्मण जाति वालों को प्रतिबोध देकर—उन्हें जैनी बना कर—महाजन वंशका विस्तार किया और उन लोगोंमें अनेक नये गोत्रोंकी स्थापना की। इन सब गोत्रोंका यतिजी ने जो इतिहास दिया है और जिसे प्रामाणिक तथा अत्यंत खोजके बाद लिखा हुआ इतिहास प्रकट किया है उसमें से कुछ गोत्रों के इतिहासका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:—

१ कुकुडचोपडा आदि गोत्र—जिनवल्लभसूरि (वि० सं० ११५२) ने मण्डोरके राजा 'नानुदे' पडिहारके पुत्र धवलचंद्र के गलितकुष्ठको कुकडी गायके घीको मंत्रित करके तीन दिन चुपड़वाने द्वारा नीरोग किया। इससे राजाने कुटुम्ब-सहित

*यह पुस्तक वि० सं० १९६७में बम्बईसे प्रकाशित हुई है।

जैन धर्म ग्रहण किया और सूरिजीने उसका महाजन वंश तथा 'कुकडचोपडा' गोत्र स्थापित किया। मंत्री ने भी धर्म ग्रहण किया और उसका गोत्र 'गणधर चोपडा' नियत किया गया। कुकडचोपडा गोत्रको बादको चार शाखाएँ हुई जिनमेंसे एक 'कोठारी' शाखा भी है जो इस वंशके एक 'ठाकरसी' नामक व्यक्ति से प्रारंभ हुई। ठाकरसीका राव चुंडेने अपना कोठार नियत किया था तभी से ठाकरसीकी संतानवाले 'कोठारी' कहलाने लगे।

२ धाड़ीवाल गोत्र—डींडो नामक एक खीची राजपूत धाड़ा मारता था। उसको वि० सं० ११५५ में जिनवल्लभ सूरिने प्रतिबोध देकर उसका महाजन वंश और 'धाड़ीवाल' गोत्र स्थापित किया।

३ लालाणी आदि गोत्र—लालसिंहको जिन वल्लभसूरिने प्रतिबोध देकर उसका 'लालाणी' गोत्र स्थापित किया और उसके पाँच बेटोंसे फिर बांठिया, जोरावर, बिरमेचा, हरखावत, और मल्लावत गोत्र चले। इसी तरह एक 'काला' व्यक्ति की औलादवाले 'काला' गोत्री कहलाये।

४ पारख गोत्र—पासूजीने एक हीरेको परख की थी उसी दिनसे राजा द्वारा 'पारख' कहे जानेके कारण उनको संतान के लोग पारख गोत्री कहे जाने लगे।

५ लूणावत आदि गोत्र—'लूणे' के वंशज 'लूणावत' गोत्री हुए परन्तु बादको उसके किसी वंशजके युद्धसे न हटने पर उसकी संततिका गोत्र 'नाहटा' होगया। और एक दूसरे वंशजको किसी नव्वाब ने 'रायजादा' कहा। इससे उसका गोत्र 'रायजादा' प्रसिद्ध हुआ।

६ रतनपुरा और कटारिया गोत्र—चौहान राजपूत रतनसिंहको, जिसने रतनपुर बसाया था जिनदत्त सूरिने जैनी

बनाकर उसका 'रतनपुरा' गोत्र स्थापित किया। इसके वंशमें झांझणसिंह नामका व्यक्ति अपने पेटमें कटार मारकर मरगया था। इससे उसकी संतति का गोत्र 'कटारिया' प्रसिद्ध हुआ।

७ राँका तथा सेठिया गोत्र—'काकू' नामका एक व्यक्ति बहुत दुर्बल शरीरका था इससे लोग उसे 'राँका' पुकारने लगे। उसे नगरसेठका पद मिला और इसलिये उसकी संतान का गोत्र 'राँका' तथा 'सेठिया' प्रसिद्ध हुआ।

गोत्रोंकी ऐसी कृत्रिम, विचित्र और क्षणिक स्थितिके होते हुए पूर्व पूर्व गोत्रोंकी दृष्टिसे सगोत्र विवाहोंका होना बहुत कुछ स्वाभाविक है। इसके सिवाय, प्रायः सभी जैनजातियोंमें गोद लेने अथवा दत्तकपुत्र ग्रहण करनेका रिवाज है, और दत्तकपुत्र अपने गोत्रसे भिन्न गोत्रका भी लिया जाता है। साथ ही, यह माना जाता है कि उसका गोत्र दत्तक लेनेवालेके गोत्रमें परिणत हो जाता है—उसकी कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती—इसी से विवाहके अवसर पर उसके गोत्रका प्रायः कोई खयाल नहीं किया जाता और यदि कहीं कुछ खयाल किया भी जाता है तो वह प्रायः उस दत्तकपुत्रके विवाह तक ही परिमित रहता है—उसके विवाहमें ही उसका पूर्व गोत्र बचा लिया जाता है—आगे होने वाली उसकी उत्तरोत्तर संततिमें फिर उसका कोई खयाल नहीं रक्खा जाता और न रक्खा जा सकता है; क्योंकि एक एक वंशमें न मालूम कितने दत्तक दूसरे वंशों तथा गोत्रों के लिये जा चुके हैं उन सबका किसीको कहाँ तक स्मरण तथा खयाल हो सकता है। यदि उन सब पर खयाल किया जाय—विवाहों के अवसर पर उन्हें टाला जाय—तो परस्परमें विवाहों का होना ही प्रायः असंभव हो जाय। इसी तरह पर स्त्रियों के गोत्र भी उनके विवाहित होने पर बदल जाते हैं और उनकी प्रायः कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं रहती। यदि उनकी स्वतंत्र सत्ता

मानी जाय तब तो एक कुलमें कितने ही गोत्रोंका संमिश्रण हो जाता है और उन सबको बचाते हुए विवाह करना औरभी ज्यादा असंभव ठहरता है। साथ ही, यह कहना पड़ता है कि भिन्न भिन्न गोत्रके स्त्री-पुरुषों के सम्बंधसे संकर गोत्री संतान उत्पन्न होती है और उस संकरताकी उत्तरोत्तर वृद्धि होते रहने से किसी भी गोत्रका अपनी शुद्ध स्थितिमें उपलब्ध होना प्रायः असंभव है। गोत्रोंकी इस कृत्रिमता और परिवर्तनशीलताकी कितनी ही सूचना भगवज्जिनसेनाचार्यके निम्न वाक्यसे भी मिलती है और उससे यह साफ़ मालूम होता है कि जैनधर्ममें दीक्षित होने पर—जैनोपासक अथवा श्रावक बनते हुए—अजैनों के गोत्र और जाति आदिके नाम प्रायः बदल जाते थे—उनके स्थानमें दूसरे समयोचित नाम रक्खे जाते थे। यथाः—

जैनोपासकदीक्षा स्यात्समयः समयोचितम् ।
दधतो गोत्रजात्यादिनामान्तरमतः परम् ॥ ५६ ॥

—आदिपुराण, ३९ वाँ पर्व ।

ऐसी हालतमें गोत्रोंकी क्या असलियत है—उनकी स्थिति कितनी परिकल्पित और परिवर्तनशील है—और उन्हें विवाह-शादियोंके अवसर पर कितना महत्व दिया जाना चाहिये, इसका पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं। साथ ही, ऊपर के संपूर्ण कथनसे यह भी मालूम कर सकते हैं कि पहले जमानेमें गोत्रोंको इतना महत्व नहीं दिया जाता था जितना कि वह आज दिया जाता है।

यहाँ पर मैं इतना और बतला देना चाहता हूं कि श्रीजिनसेनाचार्यके हरिवंशपुराणसे जहाँ यह पाया जाता है कि देवकी और वसुदेव दोनों यदुवंशी थे, एक कुटुम्बके थे, दोनोंमें चचा भतीजीका सम्बंध था और इसलिये उनका पारस्परिक विवाह

सगोत्र विवाहका एक बहुत बड़ा प्रमाण है, वहाँ यह भी मालूम होता है कि हरिवंशी राजा 'वसु'के एक पुत्र 'बृहद्ध्वज' की संततिमें यदुवंशी राजा उग्रसेन हुआ, दूसरे पुत्र 'सुवसु' की संततिमें जरासंध हुआ और जरासंधकी बहन पद्मावती उग्रसेनसे ब्याही गई। जिससे जाहिर है कि राजा वसुके एक वंश और एक गोत्रमें होने वाले दो व्यक्तियोंका परस्पर विवाह सम्बंध हुआ। और इससे यह जाना जाता है कि उस समय एक गोत्रमें विवाह होनेका रिवाज था। साथ ही, उक्त पुराणसे इस बातका भी पता चलता है कि पहले सगे भाई बहनोंकी औलादमें जो परस्पर विवाह सम्बन्ध हुआ करता था उसका एक कारण अथवा उद्देश्य 'गोत्रप्रीति' भी होता था। यथाः—

नीलस्तस्य सुतः कन्या मान्या नीलांजनाभिधा।
कुमारकन्ययोर्वृत्ता संकथा च तयोरिति ॥ ४ ॥
पुत्रो मे ते यदा कन्या भविता भविता तयोः।
अविवादे विवाहोऽत्र गोत्रप्रीत्यै परस्परम् ॥ ५ ॥

—२३ वाँ सर्ग।

इन पद्योंमें नील और नीलांजना नामके दो सगे भाईबहनों के इस ठहरावका उल्लेख किया गयाहै कि 'यदि मेरे पुत्र और तुम्हारे पुत्री होगी तो गोत्रमें प्रीतिकी वृद्धिके लिये उन दोनों का निर्विवाद रूपसे परस्परमें विवाह करदेना होगा'

परन्तु आजकल गोत्र-प्रीतिकी बात तो दूर रही, एक गोत्र में विवाह करना 'गोत्र-घात' अथवा 'गोत्रघाव' समझा जाता है। जैनियों की कितनी ही जातियोंमें तो, विवाहके अवसर पर, पिताके गोत्रके अतिरिक्त माता, माताके मामा, और पिताके मामा आदि तकके गोत्रोंको भी टालने की

फिकर कीजाती है—कहीं चार चार और कहीं आठआठ गोत्र बचाये जाते हैं—और इस तरह पर मामा फूफीकी कन्याओं से विवाह करनेके प्राचीन प्रशस्त विधानसे इनकार ही नहीं किया जाता बल्कि उनके गोत्रों तकमें विवाह करनेको अनुचित ठहराया जाताहै। मालूम नहीं इस सब कल्पनाका क्या आधार है—वह किस सिद्धांत पर अवलम्बित है—और इन गोत्रोंके बचानेसे उस सिद्धान्तकी वस्तुतः कोई रक्षा होजाती है या कि नहीं। शायद सगोत्र विवाहको अच्छी तरहसे टालनेके लिये ही यह सब कुछ किया जाता हो परन्तु गोत्रोंकी वर्तमान स्थितिमें, वास्तविक दृष्टिसे, सगोत्र विवाहका टालना कहाँ तक बन सकता है, इसे पाठक ऊपरके कथनसे भले प्रकार समझ सकते हैं। हो सकता है कि इस कल्पनाके मूलमें कोई प्रौढ सिद्धान्त न हो और वह पीछेसे कुछ कारणोंको पाकर निरी कल्पना ही कल्पना बन गई हो। परन्तु कुछ भी हो, इसमें संदेह नहीं कि यह कल्पना प्राचीन कालके विचारों और उस वक्तके विवाह सम्बंधी रीति-रिवाजोंसे बहुत कुछ विलक्षण तथा विभिन्न है—उसमें निराधार खींचातानीकी बहुलता पाई जाती है—और उसके द्वारा विवाहका क्षेत्र अधिक संकीर्ण होगया है। समझ में नहीं आता जब बहुत प्राचीन कालसे गोत्रोंमें बराबर अलटा पलटी होती आई है, अनेक प्रकारसे नवीन गोत्रोंकी सृष्टि होती रही है, एक पुत्र भी पिताके गोत्रको छोड़कर अपनेमें नये गोत्रकी कल्पना कर सकता था और इस तरह पर अपने अथवा अपनी संततिके विवाह क्षेत्रको विस्तीर्ण बना सकता था, तब वे सब बातें आज क्यों नहीं होसकतीं—उनके होनेमें कौनसा सिद्धान्त बाधक है। गोत्र परिपाटीको कायम रखते हुए भी, प्राचीन पूर्वजोंके अनुकरण द्वारा विवाह क्षेत्रको बहुत कुछ विस्तीर्ण बनाया जासकता है। अतः समाजके शुभचिंतक

सहृदय विद्वानों को इस विषय पर गहरा विचार करके गोत्रों की वर्तमान समस्याको हल करना चाहिये और समाजको उसकी उन्नतिका साधक कोई योग्य तथा उचित मार्ग सुझाना चाहिये। हम भी इस विषय पर अधिक मनन करके अपने विशेष विचारोंको फिर कभी प्रकट करनेका यत्न करेंगे।

असवर्ण और अन्तर्जातीय विवाह।

'वर्ण' के चार भेद हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। ये वर्ण इसी क्रमको लिये हुए हैं, और इनकी सत्ता यहाँ युगकी आदिसे चली आती है। इन्हें 'जाति' भी कहते हैं। यद्यपि जाति नामा नामकर्मके उदयसे मनुष्य जाति एक ही है और उस मनुष्य जातिकी दृष्टिसे सब मनुष्य समान हैं—मनुष्योंके शरीरोंमें ब्राह्मणादि वर्णोंकी अपेक्षा आकृति आदिका कोई खास भेद न होनेसे और शूद्रादिकोंके द्वारा ब्राह्मणी आदिमें गर्भकी प्रवृत्ति भी हो सकने से उनमें जातिकृत कोई ऐसा भेद नहीं है जैसा कि गौ और अश्वादिक में पाया जाता है*—फिर भी वृत्ति अथवा आजीविकाके भेद से मनुष्य जातिके उक्त चार भेद माने गये हैं। जैसा कि भगवज्जिनसेनके निम्न वाक्यसे सूचित होता है :—

मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।

---

*यथाः—वर्णाकृत्यादिभेदानां देहेऽस्मिन्न च दर्शनात्।
ब्राह्मण्यादिषु शूद्राद्यैर्गर्भाधानप्रवर्तनात् ॥४९१॥
नास्ति जातिकृतो भेदो मनुष्याणां गवाश्ववत्।
आकृतिग्रहणात्तस्मादन्यथा परिकल्पते ॥४९२॥
—उत्तरपुराण, ७४ वाँ पर्व।

वृत्तिभेदाहि तद्भेदाच्चातुर्विध्यमिहाश्नुते ॥ ४५ ॥

आदिपुराण, पर्व, ३८ वाँ।

इन चार प्रधान जातियों अथवा वर्णोंमेंसे ही अग्रवाल, खंडेलवाल, आदि नवीन जातियोंकी सृष्टि हुई है और इसीसे उन्हें उपजातियां कहते हैं। उनमें भी वृत्तिकी दृष्टिसे वर्णभेद पाया जाता है। अस्तु।

इन वर्णोंमें से प्रत्येक वर्णका व्यक्ति जब अपने ही वर्णकी स्त्रीसे विवाह करता है तो उसे 'सवर्ण विवाह' और जब अपने से भिन्न वर्णके साथ विवाह करता है तो उसे 'असवर्ण विवाह' कहते हैं। असवर्ण विवाहके 'अनुलोम' और 'प्रतिलोम' ऐसे दो भेद हैं। अपने से नीचे वर्ण वालोंकी कन्याओंसे विवाह करना 'अनुलोम विवाह' और अपने से ऊपरके वर्ण वालोंकी कन्याओं से विवाह करना 'प्रतिलोम विवाह' कहलाता है। यद्यपि, इन दोनों प्रकारके असवर्ण विवाहोंमें अनुलोम विवाह अधिक मान्य किया गया है परन्तु फिर भी सवर्ण विवाह के साथ भारतवर्षमें दोनों ही प्रकारके असवर्ण विवाहोंका प्रचार रहा है और उनके विधि-विधानों अथवा उदाहरणों से जैन तथा जैनेतर हिन्दू साहित्य भरा हुआ है।

भगवज्जिनसेनाचार्य, आदि पुराणमें, अनुलोम रूपसे असवर्ण विवाहका विधान करते हुए, स्पष्ट लिखते हैं:—

शूद्राशूद्रेण वोढव्या नान्या स्वां तां च नैगमः।
वहेत्स्वां ते च राजन्यः स्वां द्विजन्मा क्वचिच्च ताः॥

अर्थात्—शूद्रका शूद्रास्त्रीके सिवाय और किसी वर्णकी स्त्री के साथ विवाह न होना चाहिये, वैश्य अपने वर्णकी और शूद्र-वर्णकी स्त्रीसे भी विवाह कर सकता है, क्षत्रिय अपने वर्णकी और वैश्य तथा शूद्रवर्णकी स्त्रियाँ ब्याह सकता है और ब्राह्मण

अपने वर्णकी तथा शेष तीन वर्णोंकी स्त्रियोंका भी पाणिग्रहण कर सकता है।

श्री सोमदेव सूरि भी, नीति वाक्यामृतमें, ऐसा ही विधान करते हैं। यथा :—

"आनुलोम्येन चतुस्त्रिद्विवर्णकन्याभाजना ब्राह्मण-क्षत्रिय-विशः।"

अर्थात्—अनुलोम विवाहकी रीति से ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य क्रमशः चार, तीन और दो वर्णोंकी कन्याओं से विवाह करने के अधिकारी हैं।

इन दोनों उल्लेखों से स्पष्ट है कि जैन शास्त्रोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यके लिये असवर्ण विवाह ही नहीं किन्तु शूद्रा तक से विवाह कर लेना भी उचित ठहराया है। हिन्दुओंकी मनुस्मृतिमें भी प्रायः ऐसा ही विधान पाया जाता है। यथा :—

शूद्रैव भार्या शूद्रस्यसा च स्वा च विशः स्मृते।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाग्रजन्मनः॥
—अ० ३, श्लो० १३ वाँ।

यह श्लोक आदि पुराणके उक्त श्लोक से बहुत कुछ मिलता जुलता है और इसमें प्रत्येक वर्णके मनुष्योंके लिये भार्याओं (विवाहित स्त्रियों) का जो विधान किया गया है वह वही है जो आदि पुराण के उक्त श्लोक में पाया जाता है। अर्थात्, शूद्रकी शूद्रा; वैश्यकी वैश्या और शूद्रा; क्षत्रियकी क्षत्रिया, वैश्या और शूद्रा; और ब्राह्मण की ब्राह्मणी, क्षत्रिय, वैश्या और शूद्रा, ऐसे अनुलोम क्रमसे भार्याएँ मानी गई हैं।

मनुस्मृतिके ९ वें अध्याय में दो श्लोक निम्न प्रकारसे भी पाये जाते हैं :—

अक्षमाला वसिष्ठेन संयुक्ताऽधमयोनिजा।
शारङ्गी मन्दपालेन जगामाभ्यर्हणीयताम् ॥२३॥
एताश्चान्याश्च लोकेऽस्मिन्नपकृष्टप्रसूतयः।
उत्कर्षं योषितः प्राप्ताः स्वैस्वैर्भर्तृगुणैः शुभैः ॥२४॥

इन श्लोकोंमें यह बतलाया गया है कि—"अधम योनिसे उत्पन्न हुई—निकृष्ट (अछूत) जातिकी—अक्षमाला नामकी स्त्री वसिष्ठ ऋषि से और शारङ्गी नामकी स्त्री मन्दपाल ऋषिके साथ विवाहित होने पर पूज्यता को प्राप्त हुई। इनके सिवाय और भी दूसरी कितनी ही हीन जातियोंकी स्त्रियाँ उच्च जातियोंके पुरुषोंके साथ विवाहित होने पर—अपने अपने भर्तार के शुभ गुणोंके द्वारा इस लोकमें उत्कर्ष को प्राप्त हुई हैं।' और उन दूसरी स्त्रियोंके उदाहरणमें टीकाकार कुल्लूक भट्टजीने, "अन्याश्च सत्यवत्यादयो" इत्यादि रूपसे 'सत्यवती' के नामका उल्लेख किया है। यह 'सत्यवती,' हिन्दू शास्त्रोंके अनुसार, एक धीवर की—कैवर्त्य अथवा अन्त्यजकी—कन्या थी। इसकी कुमारावस्था में पराशर ऋषिने इससे भोग किया और उससे व्यासजी उत्पन्न हुए जो 'कानीन' कहलाते हैं। बादको यह भीष्मके पिता राजा शान्तनु से व्याही गई और इस विवाह से 'विचित्रवीर्य' नामका पुत्र उत्पन्न हुआ, जिसे राजगद्दी मिली और जिसका विवाह राजा काशीराज की पुत्रियों से हुआ। विचित्रवीर्यके मरने पर उसकी विधवा स्त्रियों से व्यासजी ने, अपनी माता सत्यवती की अनुमतिसे, भोग किया और पाण्डु तथा धृतराष्ट्र नामके पुत्र पैदा किये, जिनसे पाण्डवों आदिकी उत्पत्ति हुई।

इस तरह पर हिन्दू शास्त्रोंमें हीन जातिकी अथवा शूद्रा स्त्रियोंसे विवाहके कितने ही उदाहरण पाये जाते हैं और उनकी संतति से अच्छे अच्छे पुरुषों तथा वंशोंका उद्भव होना भी

माना गया है। और जैन शास्त्रोंसे म्लेच्छ, भील तथा वेश्या पुत्रियों जैसे हीन जातिके विवाहोंके उदाहरण 'म्लेच्छ विवाह' आदि प्रकरणों में दिये ही जा चुके हैं। और इन सब उल्लेखों से प्राचीन कालमें अनुलोम रूपसे असवर्ण विवाहोंका होना स्पष्ट पाया जाता है।

अब प्रतिलोम विवाहको भी लीजिये। धर्म संग्रह श्रावकाचारके ९ वें अधिकार में लिखा है :—

परस्परं त्रिवर्णानां विवाहः पंक्तिभोजनम्।
कर्तव्यं न च शूद्रैस्तु शूद्राणां शूद्रकैः सह ॥२५६॥

अर्थात्—प्रथम तीन वर्ण वालों (ब्राह्मण,-क्षत्रिय-वैश्यों) को आपसमें एक दूसरेके साथ विवाह और पंक्ति भोजन करना चाहिये किन्तु शूद्रोंके साथ नहीं करना चाहिये। शूद्रोंका विवाह और पंक्ति-भोजन शूद्रोंके साथ होना चाहिये।

इस वाक्यके द्वारा यद्यपि, श्रीजिनसेनाचार्यके उक्त कथन से भिन्न प्रथम तीन वर्णोंके लिये शूद्रोंसे विवाहका निषेध किया गया है और उसे मत विशेष कह सकते हैं, जो बहुत पीछेका मत है+—हिन्दुओंके यहाँ भी इस प्रकारका मत विशेष पाया जाता है*—परन्तु यह स्पष्ट है कि इसमें प्रथम तीन वर्णोंके लिये परस्पर रोटी बेटीका ख़ास तौर पर विधान किया गया

+ क्योंकि 'धर्मसंग्रह श्रावकाचार' वि० सं० १५४१ में बन कर समाप्त हुआ है और इसलिये वह जिनसेनके हरिवंशपुराण से ७०१ वर्ष बादका बना हुआ है।

*अत्रि आदि ऋषियोंके इस मत विशेषका उल्लेख मनुस्मृति के निम्न वाक्य में भी पाया जाता है :—

शूद्रावेदी पतत्यत्रेरुतथ्यतनयस्य च।
शौनकस्य सुतोत्पत्त्या तदपत्यतया भृगोः ॥३-१६॥

है। और इससे अनुलोम विवाहके साथ साथ प्रतिलोम विवाह का भी खासा विधान पाया जाता है। अर्थात्, क्षत्रियके लिये ब्राह्मणकी और वैश्यके लिये क्षत्रिय तथा ब्राह्मण दोनोंकी कन्याओंसे विवाहका करना उचित ठहराया गया है। जैन-कथा ग्रंथोंसे भी प्रतिलोम विवाहका बहुत कुछ पता चलता है, जिसके दो एक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

(१) वसुदेवजीने, जो स्वयं क्षत्रिय थे, विश्वदेव ब्राह्मण की क्षत्रिय स्त्रीसे उत्पन्न 'सोम श्री' नामकी कन्यासे—उसे वेदविद्यामें जीतकर—विवाह किया था। जैसाकि श्रीजिनसेनाचार्य कृत हरिवंशपुराण (२३ वें सर्ग) के निम्न वाक्यों से प्रकट है:—

अन्वये तस्तु जातेयं क्षत्रियायां सुकन्यका ।
सोमश्रीरिति विख्याता विश्वदेवद्विजन्मिनः ॥४९॥
करालब्रह्मदत्तेन मुनिना दिव्यचक्षुषा ।
वेदेजेतुः समादिष्टा महतः सहचारिणी ॥५०॥
इति श्रुत्वा तदाधीत्य सर्वान्वेदान्यदूत्तमः ।
जित्वा सोमश्रियं श्रीमानुपयेमे विधानतः ॥५१॥

इन वाक्योंसे अनुलोम और प्रतिलोम दोनों प्रकारके विवाहोंका उल्लेख मिलता है।

(२) श्रीकृष्ण ने अपने भाई गजकुमारका विवाह, क्षत्रिय राजाओंकी कन्याओंके अतिरिक्त, सोम शर्मा ब्राह्मणकी पुत्री 'सोमा' से भी किया था, जिसका उल्लेख जिनसेनाचार्य और जिनदास ब्रह्मचारी दोनोंके हरिवंश पुराणोंमें पाया जाता है। यहाँ जिनदास ब्र० के हरिवंशपुराणसे एक पद्य नीचे दिया जाता है :—

मनोहरतरां कन्यां सोमशर्माग्रजन्मनः ।
सोमाख्यां वृत्तवांश्चक्री क्षत्रियाणां तथापराः ॥३४-२६॥

(३) उज्जयिनीके वैश्य पुत्र 'धन्यकुमार' का विवाह राजा श्रेणिककी पुत्री 'गुणवती' के साथ हुआ था । अपना कुल पूछा जाने पर इन्होंने राजा श्रेणिक से साफ़ कह दिया था कि मैं उज्जयिनीका रहने वाला एक वैश्यपुत्र हूं और तीर्थ-यात्राके लिये निकला हुआ हूँ । इस पर श्रेणिक ने 'गुणवती' आदि १६ कन्याओंके साथ इनका विवाह किया था । जैसाकि रामचन्द्र-मुमुक्षु-कृत 'पुण्यास्रव' कथाकोशसे प्रकट है :—

" राजा (श्रेणिकः) ऽभयकुमारादिभिरर्द्धपथमाययौ ।
राजभवनंप्रवेश्यकिं कुलोभवानिति पप्रच्छ ॥
कुमारो ब्रूत उज्जयिन्यांवैश्यात्मजोतीर्थयात्रिकः ।
ततोनृपोगुणवत्यादिभिः षोडशकन्याभिस्तस्य
विवाहं चकार ॥"

इसी पुण्यास्रव कथाकोशमें 'भविष्यदत्त' नामके एक वैश्य पुत्रकी भी कथा है, जिसने हरिपुरके अरिंजय राजाकी पुत्री 'भविष्यानुरूपा' से और हस्तिनापुरके राजा भूपालकी कन्या 'स्वरूपा' से विवाह किया था और जिसके उल्लेखोंको विस्तार भयसे यहाँ छोड़ा जाता है ।

(४) इसी तरह पर हिन्दू धर्मके ग्रन्थोंमें भी प्रतिलोम विवाहके उदाहरण पाये जाते हैं जिसका एक नमूना 'ययाति' राजाका उशना ब्राह्मण (शुक्राचार्य) की 'देवयानी' कन्या से विवाह है । यथा :—

तेषां ययातिः पंचानां विजित्य वसुधामिमां ।

देवयानीमुशनसः सुतां भार्यामवाप सः ॥

—महाभा० हरि० अ० ३० वाँ।

इसी विवाहसे 'यदु' पुत्रका होना भी माना गया है, जिससे यदुवंश चला।

इन सब उल्लेखोंसे स्पष्ट है कि प्राचीन कालमें अनुलोम रूपसे ही नहीं किन्तु प्रतिलोम रूपसे भी असवर्ण विवाह होते थे। दाय भागके ग्रंथोंसे भी असवर्ण विवाहकी रीतिका बहुत कुछ पता चलता है—उनमें ऐसे विवाहोंसे उत्पन्न होने वाली संततिके लिये विरासतके नियम दिये हैं, जिनके उल्लेखोंको भी यहाँ विस्तार-भयसे छोड़ा जाता है। अस्तु; वर्णकी 'जाति' संज्ञा होने से असवर्ण विवाहोंको अन्तर्जातीय विवाह भी कहते हैं। जब भारत की इन चार प्रधान जातियोंमें अन्तर्जातीय विवाह भी होते थे तब इन जातियों से बनी हुई अग्रवाल, खंडेलवाल, पल्लीवाल, ओसवाल, और परवार आदि उपजातियोंमें, समान वर्ण तथा धर्मके होते हुए भी, परस्पर विवाह न होना क्या अर्थ रखता है और उसके होने में कौन सा सिद्धान्त बाधक है यह कुछ समझमें नहीं आता। जान पड़ता है यह सब आपसकी खींचातानी और परस्परके ईर्षा-द्वेषादि का ही परिणाम है—वास्तविक हानि-लाभ अथवा किसी धार्मिक सिद्धान्तसे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। वर्णोंकी दृष्टि को छोड़कर यदि उपजातियोंकी दृष्टिको ही लिया जाय तो उससे भी यह नहीं कहा जा सकता कि पहले उपजातियोंमें विवाह नहीं होता था। आर्य जातिकी अपेक्षा म्लेच्छ जाति भिन्न है और म्लेच्छोंमें भी भील, शक, यवन, शबरादिक कितनी ही जातियाँ हैं। जब आर्योंका म्लेच्छों अथवा भीलादिकोंसे विवाह होता था तो वह भी अन्तर्जातीय विवाह था और बहुत

बड़ा अन्तर्जातीय विवाह था। उसके मुकाबले में तो यह आर्यों आर्योंकी जातियों अथवा उपजातियोंके अन्तर्जातीय विवाह कुछ भी गणना में गिने जानेके योग्य नहीं हैं। इसके सिवाय, पहले भूमिगोचरियोंके साथ विद्याधरोंके विवाह सम्बंधका आम दस्तूर था, और उनकी कितनी ही जातियोंका वर्णन शास्त्रोंमें पाया जाता है। वसुदेवजी ने भी अनेक विद्याधर कन्याओंसे विवाह किया था, जिनमें एक 'मदनवेगा' भी थी और वह श्रीजिनसेनाचार्यके कथनानुसार गौरिक जातिके विद्याधरकी कन्या थी। वसुदेवजी स्वयं गौरिक जातिके नहीं थे और इसलिये गौरिक जातिकी विद्याधर-कन्यासे विवाह करके उन्होंने, उपजातियोंकी दृष्टिमें भी, स्पष्ट रूपसे अन्तर्जातीय विवाह किया था, इसमें संदेह नहीं है, आबूके तेजपाल वस्तुपाल वाले जैन मंदिरमें एक शिलालेख संवत् १२९७ का लिखा हुआ है, जिससे मालूम होता है कि प्राग्वाट (पोरवाड) जातिके तेजपाल जैनका विवाह 'मोढ' जातिकी सुहड़ा देवीसे हुआ था। इस लेखका एक अंश, जो जैनमित्र (ता० २३ अप्रेल सन १९२५) में प्रकाशित हुआ, इस प्रकार है :—

"ॐ संवत १२९७ वर्षे वैशाख सुदी १४ गुरौ प्राग्वाट ज्ञातीन चंड प्रचंड प्रसादमहं श्री सोमान्वयेमहं श्री असराज सुत महं श्रीतेजःपालेन श्रीमत्पत्तन वास्तव्य मोढ, ज्ञातीय ठ० जाल्हण सुत ठ० आससुतायाः ठकुराज्ञी संतोषा कुक्षिसंभूतायाः महंश्री तेजःपाल द्वितीय भार्या महंश्री सुहडादेवयाः श्रेयार्थं..."

यह, आधुनिक उपजातियोंमें, आजसे करीब ७०० वर्ष पहले के अन्तर्जातीय विवाहका एक नमूना है और तेजपाल नामके एक बड़े ही प्रतिष्ठित तथा धर्मात्मा पुरुष द्वारा प्रस्तुत किया गया है। इसी तरहके और भी कितने ही नमूने खोज करने पर मिल सकते हैं। कुछ उपजातियोंमें तो अब भी अन्तर्जातीय

विवाह होता रहता है।

ऐसी हालतमें इन अग्रवाल, खंडेलवाल आदि जातियोंमें परस्पर विवाह न होनेके लिये सिद्धान्तकी दृष्टिसे, क्या कोई युक्तियुक्त कारण प्रतीत होताहै,इसका पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं। साथ ही, यह भी जान सकते हैं कि दो जातियों में परस्पर विवाहसम्बंध होनेसे उन जातियोंका लोप होना अथवा जाति पाँतिका मेटाजाना कैसे बन सकता है क्या दो भिन्न गोत्रों में परस्पर विवाहसम्बंध होनेसे वे मिटजाते हैं या उनका लोप होजाता है? यदि ऐसा कुछ नहीं होता तो फिर दो जातियों में परस्पर विवाहके होनेसे उनके नाशकी आशंका कैसे कीजासक्ती है? अतः इस प्रकारकी चिन्ता व्यर्थ है। जहाँ तक हम समझते हैं एकही धर्म और आचारके मानने तथा पालनेवाली प्रायः इन सभी उपजातियोंमें परस्पर विवाहके होनेसे कोई हानि मालूम नहीं होती। प्रत्युत इसके, विवाह-क्षेत्रके विस्तीर्ण होनेसे योग्य सम्बन्धोंके लिये मार्ग खुलता है पारस्परिक प्रेम बढ़ता है, योग्यताके बढ़ानेकी ओर प्रवृत्ति होती है और मृत्युशय्या पर पड़ी हुई कितनीही अल्पसंख्यक जातियोंकी प्राणरक्षा भी होती है वास्तवमें ये सब जातियाँ परिकल्पित और परिवर्तनशील हैं—एक अवस्थामें न कभी रहीं और न रहेंगी—इनमें गो अश्वादि जातियों जैसा परस्पर कोई भेद नहीं है और इस लिये अपनी जातिका अहंकार करना अथवा उसे श्रेष्ठ तथा दूसरी जातिको अपने से हीन मानना मिथ्या है। पं० आशाधरजीने भी, अपने अनगार धर्मामृत ग्रंथ और उसकी स्वोपज्ञ टीकामें, कुल जाति विषयक ऐसी अहंकृतिको मिथ्या ठहराया है और उसे आत्म-पतनका हेतु तथा नीच गोत्रके बन्धका कारण बतलाया है। साथही, अपने इस मिथ्या ठहरानेका यह हेतु देते हुए कि 'परमार्थसे जाति-कुलकी शुद्धिका कोई निश्चय नहीं बन सकता'—

यह नहीं कहा जा सकता कि अमुक जाति अथवा कुलकी रक्त-शुद्धि, बिना किसी मिलावटके, अक्षुण्ण चली आती है—उसकी पुष्टिमें नीचे लिखा वाक्य उद्धृत किया है :—

अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे ।
कुले च कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना ॥

और इस वाक्यके द्वारा यह सूचित किया है कि 'जब संसार में अनादि कालसे कामदेव दुर्निवार चला आता है और कुलका मूल भी कामिनी है, तब किसी 'जाति कल्पना' को क्या महत्व दिया जा सकता है और उसके आधार पर किसी को क्या मद करना चाहिये' ? अतः जाति-विषयक मद त्याज्य है। उसके कारण कमसे कम सधर्मियों अथवा समान आचार को पालने वाली इन उपजातियोंमें पारस्परिक (अन्तर्जातीय) सद्विवाहोंके लिये कोई रुकावट न होनी चाहिये । अस्तु ।

उपसंहार और निवेदन ।

इस सब कथन और विवेचनसे, मैं समझता हूँ, पाठकों पर समालोचनाकी सारी असलियत खुल जायगी, उसकी निःसारता हस्तामलकवत् होजायगी और उन्हें सहज ही में यह मालूम पड़ जायगा कि प्राचीन कालमें विवाहका क्षेत्र कितना अधिक विस्तीर्ण था और वह आजकल कितना संकीर्ण बना दिया गया है। साथही, इस प्रकाश-द्वारा विवाह-क्षेत्रका अन्धकार दूर होने से वे अपने विवाह-क्षेत्रके गढ्ढों, खंदकों, खाइयों और कण्टकों आदिका अच्छा अनुभव भी प्राप्त कर सकेंगे—उन्हें यह मालूम हो सकेगा कि वे गढ्ढे आदि कहाँ

तक वास्तविक, कृत्रिम अथवा काल्पनिक हैं और उनमेंसे किस किसमें, किस हद तक, क्या सुधार बन सकता है—और अपने इस अनुभवके बलसे वे मिथ्या विभीषिकाओंको दूर करने, विवाह-क्षेत्रकी त्रुटियोंको सुधारने, रीति-रिवाजोंमें यथोचित फेरफार करने और इस तरह पर विवाह-क्षेत्रको प्रशस्त तथा विस्तीर्ण बनाकर उसके द्वारा अपनी और अपने धर्म तथा समाजकी रक्षाका समुचित प्रबन्ध करनेके लिये बहुत कुछ समर्थ हो सकेंगे। इसी सदुद्देश्यको लेकर यह इतना परिश्रम किया गया है।

यहाँ पर पाठकोंको यह जानकर बड़ा कौतुक होगा कि इसी मिथ्या, निःसार, बेतुकी और बेहूदी समालोचनाके भरोसे पर पं० महबूबसिंहजी मालिक फर्म 'हुकमचंद जगाधरमल' जैन सर्राफ, चांदनी चौक देहली, ने 'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण' के लेखक, प्रकाशक और प्रकाशकके सहायक ला० पन्नालालजीको शास्त्रार्थका चैलेंज दिया था, जो समालोचना-पुस्तक के अन्तिम टाइटिल पेज पर अंकित है और जिसमें इन लोगोंसे कहा गया है कि—

> "यदि उन्हें अपनी लिखी व प्रकाशित की हुई उपर्युक्त पुस्तक की सत्यता पर कुछ भी विश्वास है तो वे अपने सपक्षके लोगोंको साथ लेकर खुले मैदानमें शास्त्रार्थ करलें जिससे उनके हृदयमें लगे हुए मिथ्या और पतित भाव सदाके लिये छूट जाँय।"

मुझे इस चैलेंजको देखकर बड़ी हँसी आई। साथही, चैलेंजदाताके शास्त्रज्ञान और उनके इस छिछोरपन पर खेद भी हुआ। मालूम होता है पंडितजीने इस विषय पर कोई गहरा विचार नहीं किया, वे एक भोले भाले सज्जन आदमी हैं; अपने

इस भोलेपनकी वजह से ही वे समालोचक तथा समालोचक जीके सहायक एक दूसरे विद्वानके कुछ कहने सुननेमें आगये हैं और इस तरह पर व्यर्थ ही बीचमें एक हथियार बना लिये गये हैं। अन्यथा, उनमें शास्त्रार्थकी कोई स्पिरिट—चेतना, वृत्ति अथवा उत्साहपरिणति—नहीं पाई गई। समालोचनाके प्रकाशित होनेके बाद से मैं दो बार देहली गया हूं और वहाँ लगातार २२ तथा २० दिनके करीब ठहरा हूं; पं० महबूबसिंहजी कितनी ही बार बड़े प्रेमके साथ मुझसे मिले परन्तु उन्होंने कभी शास्त्रार्थको कोई इच्छा प्रकट नहीं की और न 'शिक्षाप्रद शास्त्रीय उदाहरण' या उसकी समालोचनाके विषयमें कोई चर्चा ही की। इससे पाठक सहज ही में उनकी मनःपरिस्थितिका अच्छा अनुमान कर सकते हैं और यह जान सकते हैं कि चैलेंजमें उनका नाम देकर उनके भोलेपनका कितना दुरुपयोग किया गया है। अस्तु; समालोचनाके प्रकाशित होनेके बाद जबतक मेरा देहली जाना नहीं हुआ तब तक मुझे कुछ सज्जनोंकी ओरसे यही समाचार मिलते रहे कि शास्त्रार्थके लिये बहुत कोलाहल मचाया जा रहा है और यहभी कहा जाता है कि यदि शास्त्रार्थ नहीं करोगे तो कोर्टमें नालिश करदी जायगी। इसके उत्तर में मैंने उन्हें यही सूचित कर दिया कि मैं आजकलके शास्त्रार्थोंको पसंद नहीं करता, उनमें वस्तुतत्वका निर्णय करना कोई इष्ट नहीं होता किन्तु जय पराजयके ओर ही दृष्टि रहती है और हर एक पक्षका व्यक्ति किसी न किसी तरह हुल्लड़ मचाकर अपने पक्षका जयघोष करना चाहता है; नतीजा जिसका यह होता है कि बहुतसे लोगोंमें परस्पर वैमनस्य बढ़ जाता है और लाभ कुछ भी होने नहीं पाता। अतः मैं समालोचनाका विस्तृत उत्तर लिखूंगा जिससे सबको लाभ पहुँचेगा। उन्हें यदि कोर्ट में जानेका शौक है तो वे खुशी से जायँ, मैं उनके इस कृत्यका

परिशिष्ट।

(१)

मलधारि देवप्रभसूरिने, अपने पाण्डवपुराणमें, देवकीके पिताका नाम 'देवक' दिया है और उसे कंसका चचा (पितृव्य पिताका भाई) सूचित किया है। साथ ही, लिखा है कि 'कंसने अपने चचा देवककी सुन्दर रूपवती पुत्री देवकीका विवाह उसके अनुरूप वर वसुदेवके साथ कर दिया था।' यथा:—

पुत्रीं निजपितृव्यस्य देवकस्य स देवकीम्।
सुरूपामनुरूपेण शौरिणा पर्यणाययत् ॥२–१६२॥

इससे भी स्पष्ट है कि देवकी कंसके मामाकी लड़की नहीं थी और न वह कुरुवंशमें ही उत्पन्न हुई थी; बल्कि यदुवंशी राजा उग्रसेनके सगे भाई देवक (देवसेन) की पुत्री थी और इस लिये वह कुटुम्बके नाते वसुदेवकी भतीजी हुई।

(२)

इस पुस्तकके ८८ वें पृष्ट पर यह बतलाया गया है कि हिन्दुओंके यहाँ भी देवकीके पिता देवकको कंसके पिता उग्रसेनका सगा भाई माना गया है परन्तु एक बात प्रकट करने से रह गई थी और वह यह है कि इन लोगोंको यदुवंशी भी माना है—अर्थात्, जिस तरह वसुदेवजी यदुवंशी थे उसी तरह देवकीके पिता देवक भी यदुवंशी थे; दोनोंही का जन्म यदुके पुत्र क्रोष्टु या क्रोष्टाकी संततिमें माना गया है, जिसके वंशका विस्तृत वर्णन महाभारतीय हरिवंशपुराणको देखने से मालूम हो सकता है; और इससे स्पष्ट है कि प्राचीन कालमें हिन्दुओंके यहाँ भी सगोत्र-विवाह होता था। श्रीकृष्णकी सत्य-

भामादिक कुछ स्त्रियाँ भी, उनके मतसे, कृष्णकी तरह क्रोष्टुके वंशमें ही उत्पन्न हुई थीं; जैसाकि उक्त हरिवंशपुराणके टीकाकार नीलकण्ठजी, ३६ वें अध्यायकी टीकाका प्रारंभ करते हुए और उसके "क्रोष्टोरेवाभवत्पुत्रो" इत्यादि पद्य पर टिप्पणी देते हुए, लिखते हैं :—

"षट्त्रिंशे वर्ण्यते वंशः क्रोष्टोर्यदुसुतस्य च ।
यत्र जाता महालक्ष्मी रुक्मिणी शक्तिरीश्वरी ॥१॥
क्रोष्टोरेवेति । यथा कृष्णः क्रोष्टुर्वंशेजात एवं सत्य-
भामादयोऽपि तत्रैव जाता इति वक्तुमेवकार ।"

